Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रधान–सम्पादक
यशदेव शल्य
मुकुंद लाठ

सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा
प्रदीप कुमार खरे

उन्मीलन

मानसिक हिन्द स्वराज का वैतालिक दार्शनिक षाण्मासिक

वर्ष 27, अंक 1
जनवरी, 2013

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वर्ष 27 अंक 1 जनवरी, 2013

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक दार्शनिक षाणमासिक

प्रधान-सम्पादक

यशदेव शल्य

मुकुन्द लाठ

सम्पादक

अम्बिकादत्त शर्मा

प्रदीप कुमार खरे

दर्शन प्रतिष्ठान

जयपुर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परामर्शदाता

1. रामजी सिंह, 104, सन्याल इन्क्लेव, बुद्धमार्ग, पटना–800001
2. अशोक वाजपेयी, सी–60, अनुपम को–ऑपरेटिव ग्रुप हाउसिंग सोसायटी, वसुन्धरा एन्क्लेव, दिल्ली–110096
3. रमेशचन्द्र शाह, एम. 4, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल–462003
4. अशोक वोहरा, 21/4, कैवेलरी लाइन, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली–110007

प्रधान-सम्पादक

1. यशदेव शल्य, पी–51, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015, दूरभाष 2707493
2. मुकुन्द लाठ, ए 37/38, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर–302006 दूरभाष 2294727/2293725

सम्पादक

1. अम्बिकादत्त शर्मा, सी.–37, गौर नगर, विश्वविद्यालय परिसर, सागर–470003 दूरभाष 07582–264587 मो. 09406519498
2. प्रदीप कुमार खरे, आर.बी. 72, इण्डस गार्डन, गुलमोहर, भोपाल–462039, दूरभाष 0755–2427461, मो. 09425029308

ISSN 0974 0053
UNMEELAN (Print)

वार्षिक शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 50/–
संस्थाएं : रु. 100/–

आजीवन शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 1000/–
संस्थाएं : रु. 5000/–

आजीवन/वार्षिक सदस्यता हेतु राशि "प्रधान–सम्पादक – उन्मीलन" के पक्ष में बैंक ड्राफ्ट (सागर, म.प्र. पर देय) निम्न पते पर भेजें – अम्बिकादत्त शर्मा, दर्शन विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर–470003 (म.प्र.)

यशदेव शल्य, मुकुंद लाठ एवं अम्बिकादत्त शर्मा द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, पी–51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015 के लिए प्रकाशित।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनुक्रमणिका

1. आधुनिक भारतीय वाङ्मय परम्परा में दर्शन की प्राण–प्रतिष्ठा — *रमेशचन्द्र शाह* 5

2. ज्ञान : एक विमर्श — *मुकुन्द लाठ* 17

3. प्रमाण अपरोक्षतावाद : अपरोक्ष फलोपधायी परोक्ष–प्रमाण — *अम्बिकादत्त शर्मा* 52

4. प्रारम्भिक न्याय में प्रत्यक्ष की अवधारणा — *सच्चिदानन्द मिश्र* 72

5. कांट के दर्शन का तात्पर्य – II *कृष्णचंद्र भट्टाचार्य* — *अनुवादक : मुकुन्द लाठ* 91

6. पुस्तक–समीक्षा *हरिशंकर सिंह कृत* बौद्ध–प्रमाणमीमांसा : प्रत्यक्ष के विशेष संदर्भ में — *अरविन्द कुमार राय* 108

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला

1.	संगीत और चिन्तन (शंकर पुरस्कार से सम्मानित)	–	मुकुंद लाठ	100.00
2.	धर्म–संकट	–	मुकुंद लाठ	200.00
3.	कर्म–चेतना के आयाम	–	मुकुंद लाठ	250.00
4.	क्या है? क्या नहीं है?	–	मुकुंद लाठ	150.00
5.	मूल्यतत्त्व–मीमांसा (शंकर, मंगलाप्रसाद तथा मूर्त्तिदेवी पुरस्कारों से सम्मानित)	–	यशदेव शल्य	200.00
6.	चिद्विमर्श	–	यशदेव शल्य	175.00
7.	तत्त्व–चिन्तन	–	यशदेव शल्य	200.00
8.	चित् की आत्म–गवेषणा	–	यशदेव शल्य	250.00
9.	काव्य–विमर्श	–	यशदेव शल्य	250.00
10.	मुख्य भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन–धाराएं	–	यशदेव शल्य भगवती	150.00

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आधुनिक भारतीय वाङ्मय परम्परा में दर्शन की प्राण-प्रतिष्ठा

रमेशचन्द्र शाह

सैकड़ों वर्षों की परतंत्रता ने भारत की दार्शनिक प्रवृत्ति को आघात पहुँचाया और ज्ञान–विज्ञान की हमारी दृष्टि एवं और गति बाधित हुई। इससे भी अधिक विषादमयी छाया यह है कि समकालीन लेखन में आ रही भारत की पारम्परिक तस्वीर बहुत मनमाने ढंग से चित्रित की जा रही है। भारतीय भाषाओं के साहित्यिकों में भी इस क्षेत्र का लेखन करने की उदासीनता है, जिसके चलते पाठकों को भारतीय दर्शन की सच्ची और जीवंत तस्वीर प्राप्त नहीं हो रही है। ऐसे में आवश्यकता है कि हम अपनी परम्पराओं में गहरे तक जाकर देखें कि वे भारतीय वाङ्मय में किस तरह समाहित हैं तथा दर्शन को पद–प्रतिष्ठा देने में हमारे साहित्यिकों को किन शर्तों से जूझना होगा। यहाँ हम इस विषय के विविध बिंदुओं को एक साहित्यकार के दृष्टिकोण से इस विषय को रेखांकित करने का प्रयास करेंगे।

I

फिलॉसफी इज ए वेस्टर्न एंटरप्राइज' – अर्थात् दर्शनशास्त्र (पढ़ें–फलसफा) पश्चिम का ही खास अपना आविष्कार और सरोकर है – यह बात इन्हीं या इन्हीं से मिलते–जुलते शब्दों में आपको हेगल से लगाकर हुस्सर्ल तक बराबर गूंजती सुनाई देगी। आपने उस 'बेस्टसेलर' का नाम भी सुना ही होगा – विलड्यूरेंट के 'दि स्टोरी ऑफ फिलॉसफी' का–मगर उसमें आपको भारतीय दर्शनिकों का तो क्या, भारतीय दर्शन नाम की भी कोई चीज है, इसका ढूँढे से भी पता न चलेगा।

एक बात इस वस्तुस्थिति से ही लगी–लिपटी और भी ध्यान देने की है। प्राचीन भारत में पश्चिम की दिलचस्पी आज भी बरकरार है, आज भी बीसियों किताबें धड़ाधड़ छप रही हैं– निर्यात हो रही हैं इस विषय पर। इस विषय की रद्दी से रद्दी पुस्तक भी छापने को प्रकाशक तैयार बैठे हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इसलिए कि उसमें जोखिम–जैसी कोई चीज नहीं। प्राचीन भारत के नाम पर सब कुछ खप जा सकता है। मगर आधुनिक प्रतिनिधियों की नजर में भले भारतीय मनीषा और भारतीय प्रज्ञा का प्रवाह अभी तक अटूट और निरन्तर नव–नवोन्मेषशाली ही ठहरता हो, मगर पश्चिम अधिकांशतः इस अक्षुण्णता को, इस निरन्तरता को यथावत् स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं। उसके लिए इंडिया 'इंडोलॉजी' भर है – एक पुरातात्त्विक चीज। न कि जीता–जागता, निरंतर सृजनशील संस्कृति–प्रवाह।

बात शायद इस तरह रखने पर समझ में नहीं आएगी। कई किताबें गिना दी जाएंगी जो आज के भारत और उसके समाज और राजनैतिक हालात पर धड़ल्ले से छपती जा रही हैं। 'बुकर प्राइज' वगैरह का हवाला दिया जाएगा कि कैसे नहीं है पश्चिम की रूचि भारत में? ये देखो रूश्दी, ये देखो नायपॉल, ये देखो पुराने लेखकों में आर.के. नारायण, राजाराव आदि। और ये देखो अरून्धती राय, रोहिंटन मिस्त्री, अमिताभ घोष, विक्रम सेठ इत्यादि नये लेखक। क्या पश्चिम लहालोट नहीं इन पर ? वो देखो झुम्पा लाहिड़ी का कहानी–संग्रह क्या धूम मचा रहा है। अमेरिका में पुलित्जर प्राइज ! यह यंग इंडिया की प्रतिभा का स्वीकार–अभिनंदन नहीं, तो क्या है ? ये देखो नए भारत के निर्माता पंडित नेहरू और उनके वंश की यशोगाथा ! सुनील खिलनानी की किताब "भारतनामा" रंग बांध रही है कि नहीं ? भारतीय भाषाओं के साहित्य में न सही पश्चिम की दिलचस्पी। समकालीन भारतीय दर्शन में भी न सही। मगर आधुनिक भारत की सामाजिक और राजनीतिक दशा में खूब दिलचस्पी है। है कि नहीं ? ऐसी स्थिति में अंग्रेजी को गरियाने से कोई लाभ नहीं। जितने भी तेज–तर्रार मेधावी किस्म के लोग भारतीय विश्वविद्यालयों में दर्शनशास्त्र का मोर्चा संभाले हुए हैं, सभी अंग्रेजी में लिखते रहेंगे। सारे सेमिनार, सारी कान्फ्रेंसें अंग्रेजी में चलती हैं। आधुनिक भारतीय जीवन और आधुनिक भारतीय सोच–विचार के बेहतरीन नमूने ही अंग्रेजी में नहीं छपते और दिखते, बल्कि उत्तर–दक्खिन और पूरब–पश्चिम चारों दिशाओं में कार्यरत भारतीय बौद्धिकों और लेखकों के बीच भी आपसी संवाद का जरिया अंग्रेजी ही है– इसमें भी कोई शक नहीं। और, कि उंगलियों पर गिने जाने लायक जो थोड़े से दर्शन के विद्वान् – भारतीय दर्शन के भी अधिकारी विद्वान् – बीसवीं सदी में हो गुजरे हैं – जैसे कृष्णचंद्र भटट्ाचार्य, रानाडे या मूर्ति या राधाकृष्णन। या फिर अभी हाल–हाल के मोहान्ती या जे.एल. मेहता या दयाकृष्ण या के.जे शाह। सबका काम

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अंग्रेजी में ही मिलेगा। तो क्या हुआ? राजाराव ने 'कंठपुरा' और 'सर्पेण्ट ऐंड दि रोप' कन्नड़ में न लिखकर अंग्रेजी में लिखा तो इसमें हमारा क्या बिगड़ गया ? वेदान्त की प्रतिष्ठा ही तो बढ़ी उपन्यास के माध्यम से। गाँधी नाम की घटना का भारत के लोकचित्त पर कैसा क्या प्रभाव पड़ा – इसका 'कंठपुरा' उपन्यास जैसा मार्मिक आख्यान प्रस्तुत करता है, वैसा कुछ दिखा दो जरा एक भी भारतीय–भाषा के उपन्यास में, तो मानूं। और फिर क्या, बड़े–बड़े आलोचकों ने राजाराव की तारीफ इसी विधा पर नहीं की है कि उन्होंने अंग्रेजी भाषा को भी संस्कृत के तर्ज पर ढ़ाला और उसके साथ हर तरह की रचनात्मक छूटें लीं जो कि एक भारतीय ही ले सकता है। इन्हीं कारणों से यह उपन्यास भारतीय है, लिखा भले गया हो अंग्रेजी में। इसी तरह आर.के. नारायण का 'मालगुड़ी डेज' भी क्या भारतीय जीवन, भारतीय चरित्र और भारतीय रंग–ढंग की ही प्रामाणिक छवियाँ नहीं उकेरता ? क्या हुआ, यदि अंग्रेजी में लिखा ? अपनी हानि को भी लाभ में बदलने का पुरूषार्थ कोई दिखा दे तो यह उसकी हार हुई या जीत ? दर्शन को ही लो, तो क्या कभी किसी को सपना तक आ सकता था कि अंग्रेजी सरीखी यूरोप की सबसे अ–दार्शनिक, सबसे ज्यादा हिसाबी–किताबी–कानूनी और साहित्यिक भाषा में कभी 'दि लाइफ डिवाइन' जैसा ग्रंथ भी रचा जा सकता था ? गुलाम बनाने वाली भाषा को गुलाम देश में जन्मी एक प्रतिभा ने विश्व–मानव को ही सबसे बड़ी गुलामी से छुड़ाने–मुक्त करने का अस्त्र बना दिया। इससे बड़ी विजय हमारी नव–नवोन्मेषशालिनी भारतीय प्रज्ञा और परंपरा की भला और क्या होगी। आगे कभी इस विज्ञान–विकल दर्शन विहीन पश्चिम प्रेरित यंत्र–सभ्यता में इसी दर्शन की दुंदुभी बजनी तय है। क्योंकि इससे ज्यादा समावेशी, इससे ज्यादा बड़ा मुक्ति का सपना मानवजाति के इतिहास में अभी तक किसी दार्शनिक कहे जाने वाले मनुष्य ने तो देखा नहीं था। तो फिर? विवेकानंद का सारा लिखा हुआ और बोला हुआ अंग्रेजी में ही न है ? गाँधी का भी सब कुछ लिखा–बोला अंग्रेजी में ही न है ? तो फिर ?

II

सवाल यह नहीं। सवाल यह है कि क्या आपद्धर्म को धर्म की जगह प्रतिष्ठित किया जा सकता है ? सवाल यह भी है कि क्या काव्य की तरह दर्शन भी – यानी मौलिक दर्शन – अपनी मातृ या मातृभाषा के बदले किसी पराई भाषा में रचा जा सकता है ? अंग्रेजी में लिखे उपन्यासों में तो

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

चलो – भारतीय जीवन का रूप–रंग और स्वाद – चलो, मान लिया कि उतर आना संभव है। मगर काव्य ? एक तो उदाहरण बता दो – एक भी ऐसा इंडो–आंग्लिकन पोएट, जो प्रसाद, निराला या अज्ञेय तो दूर विपिन अग्रवाल या श्रीकांत वर्मा तक के आस–पास तक फटक सके।

और देखो, भट्टाचार्य वगैरह की बात और है। वे वेदान्त का पुनर्निर्वचन कर रहे थे। वेदान्त दर्शन संस्कृत में रचा गया था। अब संस्कृत उस अर्थ में, उस स्तर पर जीवन्त सर्जना की भाषा कही जा सकती है क्या? नहीं कही जा सकती। बाङ्ला में तो रच नहीं सकते थे वे अपना दर्शन। हालांकि श्री अनिर्वाण ने अपना 'वेदरहस्य' बाङ्ला में ही लिखा है : वेद का अप्रतिम भाष्य, जो अभी हाल ही हिन्दी में अनूदित हो सका। अनिर्वाण ठीक उस अर्थ में एकेडेमिक दार्शनिक न हों, परंतु उससे ज्यादा ऊँची विभूति थे। योगी, रहस्यदर्शी, तत्त्ववेत्ता और आचार्य एक साथ। एक दुर्लभतम संयोग। क्योंकि दर्शन एक परम्परा में होता है – भाषा को उसकी टेव पड़ी होनी चाहिए – उस स्तर के अमूर्तन की। कविता की बात और है। वहाँ रवींद्र कोरी स्लेट पर नहीं लिख रहे थे। रामप्रसाद और चंडीदास और जयदेव जिस भाषा में लिख गए – उसी में नई झंकार पैदा करना था उन्हें। मगर, दार्शनिक ? दार्शनिक गद्य में तो छोड़ो, महज साहित्यिक गद्य भी बाङ्.ला में कब उपजा? बहुत देर में। है ना ? वही हाल हिन्दी का समझो। या उससे भी बुरा। नहीं?

अलावा इसके, इतनी लम्बी राजनैतिक पराधीनता, इतना निरंतर संस्कृति–विनाश, धरोहर–ध्वंस, दुनिया की किसी और जाति या देश को भुगतना पड़ा हो, तो बताओ। इसे समझो, इसी पर से सोचो तो तुम्हें ताज्जुब की बात यह नहीं लगेगी कि भारतीय वाङ्.मय में दर्शन की इतनी लम्बी और अद्भुत परम्परा सूख कैसे गई, शंकराचार्य के प्रगट होने में शताब्दियाँ क्यों लगीं और शंकराचार्य के बाद फिर इतना सूखा क्यों पड़ा रहा ? बल्कि ताज्जुब तुम्हें इस पर करना चाहिए कि इतना कुछ न केवल बचा रहा, बल्कि भक्ति आन्दोलन (जो था तो मूल में दार्शनिक आंदोलन ही) के जरिये एक तरह का पुनर्जागरण जैसा ही हो गया, जिसमें रामानुज, मध्व निम्बार्क और वल्लभाचार्य जैसे दार्शनिकों की भूमिका प्रमुख रही। और इनके बाद भी विद्वत्परम्परा के स्तर पर कम से कम तमाम विपरीत परिस्थितियों में भी–न सही नया सर्जन–चिंतन – परंतु मूलग्रंथ और उनके भाष्य तो बखूबी बचाए ही जा सके। 'राजा कालस्य कारणम्' – कहा गया है कि नहीं ? फर्ज करो, औरंगजेब की जगह दाराशिकोह (उपनिषदों का फारसी अनुवादक) गद्दी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पर बैठ जाता। तो क्या औपनिषदिक दर्शन–चिंतन के कुछ नए आयाम न खुलते? फारसी–संस्कृत के बीच दार्शनिक स्तर पर कुछ परसेचन की – क्रॉस–फर्टिलाइजेशन की प्रक्रिया – नहीं चलती? क्या पता तब, मध्यकालीन हिंदुस्तान की दार्शनिक मेधा भी इस टकराहट के फलस्वरूप मात्र संरक्षणशीलता से आगे बढ़कर कुछ नए सृजनात्मक तेवर दिखाती। कुछ नया खमीर उठाती।

आधुनिक भारत के जन्मदाता कहे जाने वाले राजाराममोहन राय को ही देखें, मैक्समूलर तक ने इस पर अफसोस जाहिर करते हुए कहा है कि "सब कुछ अनुकूल होने पर भी, कितने खेद की बात है कि हम राममोहन राय को ईसाई नहीं बना सके। अद्वैत में उसके विश्वास की नहीं डिगा सके।" राममोहन राय, दरअसल देखा जाए तो, जिसे आज हम तुलनात्मक धर्म–विज्ञान कहेंगे, उसके सबसे आरंभिक प्रस्तावकों में गिने जाने चाहिए। हालांकि यह श्रेय उन्हें कोई देता नहीं, उनको अपना सबसे हितैषी मित्र मानने वाला साम्राज्यवादी ब्रिटेन तक नहीं। मगर अब तो – आजादी के पचास–साठ साल बाद तो – हमें हजार बरसों की गुलामी की धूल धो–पोंछकर अपने निकट अतीत की उपलब्धियों को अपने वर्तमान से जोड़कर देख सकना चाहिए। क्या जरूरी है कि हम उसी तरह सोचते–करते रहें, जिस तरह हमारे भूतपूर्व शासकों–आकाओं ने हमें सोचना–करना सिखाया ? क्यों नहीं हम स्वयं खोजे और पुनर्मूल्यांकन करें – अपने सुदीर्घ ऐतिहासिक अनुभवों और अपने धार्मिक–दार्शनिक संस्कारों की पुख्ता जमीन पर खड़े होकर – उन लोगों का, जिनके कारण हम अभी तक दुनिया को मुँह दिखाने लायक बने हुए हैं। क्यों न हम परोपजीवी कोटियों और मुहावरों में सोचने की कुटेव छोड़ दें– मानसिक गुलामी के दुश्चक्र को एक बारगी तोड़ दें! सवाल तत्काल रूप से अग्रेंजी का भी है या नहीं, यह तभी समझ में आएगा। मातृभाषा और राष्ट्रभाषा में सोचने–करने का असली बुनियादी तर्क भी तभी हमारे सिर पर चढ़कर बोलेगा, जब हम उधार में मिली, आसानी से हत्थे चढ़ जाने वाली जो विभाजनकारी, द्वैतमूलक कोटियाँ हैं विचार करने की, उनकी विभाजनकारी और हिंसामय और असलियत को बूझ लें और उस अपने पारम्परिक ढंग को बौद्धिक वैधता और वरीयता देकर प्रतिष्ठित करें, जो वस्तुतः हमारे जाने–अनजाने हमारे इस दुनिया में जीने–मरने का खास अपना ढंग है। और जिसके फायदे भी हम अपने निजी जीवन में (घर–परिवार–समाज में) खूब मजे से उठाते रहे हैं। गोष्ठियों–परचों में उन

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पर लानत भेजते हुए। वह महज सहिष्णुता का ढंग नहीं बल्कि वास्तविक चराचरव्यापी संलग्नता और एकता की अनुभूति में से उपजा और फला–फूला ढंग है। जो अब भी किसी न किसी रूप में हमारे भीतर सक्रिय और जीवित है। दार्शनिक के.सी. भट्टाचार्य का सन् 1927 में हुगली कालेज में दिया गया एक प्रसिद्ध व्याख्यान मिलता है जिसमें उन्होंने अपने देशवासियों को 'वैचारिक स्वराज' के लिए प्रेरित किया था। उस अत्यन्त मार्मिक संदेश का मर्म समझें। वह गाँधीजी के 'हिन्द–स्वराज' के समानांतर एक विशुद्ध दार्शनिक द्वारा प्रतिपादित हमारे देश–काल का ज्वलन्त सत्य था। यूं ही महज एक राजनैतिक या रणनीतिक नारा नहीं। इस देश की सहज बुद्धि को, इसके मात्रा–ज्ञान को, इसकी प्राणशक्ति को, इसकी परम्परा की संजीवनी शक्ति को किसने सबसे ज्यादा चोट पहुँचाई है – मर्माघात जिसे कहा है इतिहासकार टॉयनबी ने ही नहीं, विश्वविख्यात साहित्यकार वी.एस. नायपॉल ने भी (इंडिया : ए वूंडेड सिविलेजेशन नामक ग्रंथ में)– वह कौन–सी चीज है ? कौन सी हिंसा अथवा प्रदूषण है। उसे उसके सही नाम से पुकारने का साहस दिखाने का वक्त कब आएगा ? पुकारा था अपने ढंग से विवेकानंद ने, गाँधी ने, अरविंद ने उसे। खुद उस जमाने की बड़ी दार्शनिक मेधा के. सी. भट्टाचार्य ने। मगर उन नामों पर इतिहास की धूल चढ़ गई है। उनसे अब हमारा काम नहीं चलेगा। नया नाम सिरजना पड़ेगा। अपनी आज की जीवनानुभूति से और अपनी अंतरात्मा की पीड़ित विवेक–चेतना में से। तभी नया काम भी सामने आएगा। यहीं दर्शन की सहयोगी साहित्य–सर्जना की भूमिका उजागर होती है। तब तक, चलो इसी नाम से 'वैचारिक–स्वराज' से काम चलाएँ। आखिर वह पिछली शताब्दी के शायद सबसे मान्यता–प्राप्त दार्शनिक दिमाग का दिया नाम है। राधाकृष्णन् व्याख्याता थे। बहुत अच्छे, बहुत लोकप्रिय। मगर व्याख्याता ही थे। भट्टाचार्य की अद्वैत वेदान्त की व्याख्या में, काण्ट के साथ तुलनात्मक विमर्श में भी, मौलिक दार्शनिक मनीषा की दीप्ति है। मुझे आधुनिक भारत के अनूठे दार्शनिक बुद्धिजीवी स्व. जे.एल. मेहता ने अपने एक पत्र में लिखा था – "सचमुच सही मानों में तो भारतीय दर्शन का इतिहास अभी लिखा ही नहीं जा सका है।" मेरे जैसे मात्र ले–मैन जिज्ञासु तो राधाकृष्णन् और उनसे कहीं ज्यादा गहरे दर्शनशास्त्री सुरेंद्रनाथ दासगुप्त के चार खंड पढ़कर ही आश्वस्त थे कि इतिहास तो कम से कम लिखा ही है हमारे दर्शनशास्त्र के प्रोफेसरों ने। और कुछ न भी किया हो, तो। मगर अस्तित्ववादी दर्शन के अधिकारी विद्वान्, हाइडेग्गर के विश्वविश्रुत

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मर्मज्ञ और वेद–महाभारत–श्रीमद्भागवत के अनूठे भाष्यकार जे.एल. मेहता साहब जब यह कहते हैं तो उनकी बात यूं ही नहीं उड़ाई जा सकती। निश्चय ही वे समकालीन भारतीय दर्शन की अवस्था से संतुष्ट नहीं थे। और यह बेवजह नहीं था।

III

अज्ञेय ने एक जगह (शायद 'भवन्ती' में) लिखा है– "मानव–मात्र की दीनावस्था क्या यांत्रिकी क़ी विजय का परिणाम है, या कि दर्शन की पराजय का ? मानव क्या दर्शन को फिर उबार सकता है कि दर्शन मानव को उबार सके ? इतना ही नहीं, आगे इन्होंने इसमें एक बड़े मार्के की बात और भी जोड़ी है। वे पूछते हैं : जब राजनीति केवल सत्ता की साधना है और अर्थशास्त्र केवल वैधलूट, तब क्या जरूरी है कि दर्शनशास्त्र भी इस स्थिति की समर्थन–संहिता बनकर रह जाए ? क्या सीमाओं का अतिक्रमण ही मानव का चरम कर्तव्य नहीं है ? तब फिर क्या दर्शन का धर्म यही नहीं हो जाता कि मानव की अपनी सीमाओं का अतिक्रमण कर सकने की क्षमता पर प्रत्यय दिलाए" ?

दर्शन के स्वास्थ्य की ऐसी चिंता, दर्शन की शक्ति में ऐसा गहरा विश्वास केवल भारत देश में, और केवल हिन्दीं के साहित्यकार के यहाँ ही दिखाई दे सकता है। श्री अरविंद ने कहीं लिखा है कि दर्शन अन्यत्र जैसे यूरोप में केवल अन्य अनुशासनों के बीच एक अनुशासन है, भारत में वह ज्ञान का सर्वोच्च प्रकार है, बल्कि जीवन के लक्ष्य का, परमार्थ का अनुसंधान है जो हर मनुष्य के लिए मार्गदर्शक और सीधा उसके जीवन का अंग है, सरोकार है। 'भारतीय परम्परा के मूल स्वर' नामक अपनी तरह के अनूठे ग्रंथ के रचयिता गोविन्द्रचन्द्र पाण्डे सरीखे मनीषी का भी यही कहना है कि विभिन्न संस्कृतियों में ज्ञानी की परिभाषा भिन्न रूप से मिलती है। भारतीय परम्परा में ज्ञानी का मुख्य अर्थ आत्म–ज्ञानी रहा है। यद्यपि आत्मज्ञान का संकेत सभी परम्पराओं में मिलता है परन्तु उसका इतना महत्त्व–स्वीकार, कि सामान्य जनता तक ज्ञान का मुख्य अर्थ आत्मज्ञान समझे, न कि व्यावहारिक ज्ञान, यह भारतीय परम्परा की ही एक विलक्षणता है।

किंतु जहाँ तक इस आत्म–ज्ञान के 'दर्शन' में और दर्शन के जरिए मनुष्य की लोकयात्रा में, तथा लौकिक ज्ञान–आश्रित अभ्युदय में प्रतिफलित होने का प्रश्न है, यह मान लेना भूल होगी कि भारतीय दर्शन की जो भी संभावनाएँ थीं वे प्राचीन काल में अथवा शंकर तथा शंकरेतर दर्शन सम्प्रदायों के द्वारा पूरी तरह निःशेष की जा चुकी हैं और अब समकालीन भारतीय दर्शन

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

केवल पुराने चिंतन की ही व्याख्या कर सकता है अथवा पश्चिम की ही दार्शनिक परम्परा का अनुगमन करके अपनी सार्थकता सिद्ध कर सकता है। दुर्भाग्य से– कुछेक ही अपवादों को छोड़– हमारे विश्वविद्यालयों में दर्शन की स्थिति ऐसी ही गतिरूद्ध और अनुकरणात्मक हो गई है। जो अपवाद हैं– उनके महत्त्व की स्वीकृति और उनसे सम्यक् प्रेरणा प्राप्त करने का उत्साह भी नहीं दिखाई दे रहा। एक और महत्त्वपूर्ण बात की ओर संकेत करके मैं इस लेख का उपसंहार करूंगा। वह यह कि सम्प्रति समूचे विश्व में दर्शन की स्थिति अच्छी नहीं है। उसके किसी जमाने में सबसे महत्त्वपूर्ण माने जाने वाले अंग तत्त्वमीमांसा यानी 'मैटाफिजिक्स' को तो जैसे परित्यक्त और वर्जित ही कर दिया गया है। ज्यादा से ज्यादा महज नीतिशास्त्र में उसे सीमित कर दिया गया है। या फिर, गणित और भाषाशास्त्र के साथ जुड़कर ही उसे एक तरह की वैद्यता हासिल हो पाती है। अपने आपमें समस्त ज्ञान–विज्ञान के प्रमाण और स्रोत वाली हैसियत उसकी नहीं रह गई है। मगर बीसवीं सदी में जिन दो पाश्चात्य दार्शनिकों ने सबसे ज्यादा विचार–जगत् को प्रभावित किया, वे हैं हाइडेग्गर और विटगेन्स्टाइन। हाइडेग्गर के साथ सार्त्र, यास्पर्स और कीर्केगार्द का भी नाम लिया जा सकता है जो अस्तित्ववादी दर्शन के अन्तर्गत परिगणित होते रहे हैं। पर उनमें सर्वाधिक गहरी और उलट–फेर कर सकने वाली प्रतिभा – समूची पाश्चात्य फलसफे की परम्परा को विखंडित करके बूझने वाले – हाइडेग्गर की थी जिसने परोक्षतः किंतु बहुत निर्णायक ढंग से देरिदा आदि उत्तर–आधुनिकवादी चिंतकों को अनुप्राणित किया है। यह महज संयोगभर नहीं था कि हमारे एक प्रमुख समकालीन दार्शनिक स्व.जे.एल. मेहता को हाइडेग्गर का शिष्यत्व प्राप्त करने की और उसके दर्शन पर सबसे प्रामाणिक ग्रंथ रचने की प्रेरणा हुई। जबकि उनका इरादा पहले मनोविश्लेषण शास्त्री बनने का था– उस दिशा में भी वे काफी आगे जा चुके थे। यह भी बहुत दूरगामी महत्त्व की घटना मुझे लगती है कि मेहता साहब हाइडेग्गर के कृतित्व के गहरे अवगाहन के बाद एक दुनिवार्य प्रेरणा के वशीभूत होकर वेदों के तथा वेदोत्तर काव्य और पुराण की ओर उतनी ही उत्कट जिज्ञासा के साथ उन्मुख हुए। समकालीन भारतीय दर्शन स्वयं को कैसे उस आद्य दार्शनिक परम्परा का सृजनशील और नवोन्मेषशाली उत्तराधिकारी बनाए, असली प्रश्न यह है। जैसे बिना समकालीन भारतीय साहित्य की प्राणशक्ति के बारे में आश्वस्त हुए प्राचीन भारतीय साहित्य का गौरव लेने की चेष्टा इंडोलॉजिकल पूर्वग्रहों के दुश्चक्र

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

में फंस जाना है, ठीक उसी तरह हमारे समकालीन भारतीय दर्शनशास्त्रियों को भी वास्तविक नए सृजन के आधार पर ही अपनी हैसियत बनानी होगी– अपने को सही मानों में दार्शनिक साबित करना होगा। नहीं तो 'समकालीन भारतीय दर्शन' पद खोखला और निरर्थक हो जाएगा। जैसा कि किसी सीमा तक वह हो भी गया है।

ऐसा उन्मेष घटित हो, इसके लिए दो बातें नितांत आवश्यक हैं। पहली यह कि हमारे साहित्यकार दर्शन की गतिविधियों से – कल्पनाशक्ति की दार्शनिक उड़ानों से भी – उदासीन न रहें। भारतीय दार्शनिक परम्परा में मनुष्य और जीवन–जगत् तथा 'आत्मा', 'अनात्म' इत्यादि का जो गंभीर चिंतन हैं, उसे आज की परिस्थिति में, आज के विज्ञान–प्रेरित बुद्धिजीवी समय में, आज के जीवन और संसार के परिप्रेक्ष्य में देखें; अपने सृजनात्मक–कर्म में आज के जटिल–ज्वलंत प्रश्नों का सामना करें – उनसे कतराएँ नहीं। साहित्यिक आलोचना भी पारम्परिक रस–ध्वनि–अलंकार आदि सिंद्धातों के समकालीन जीवंत अनुभव और जीवंत काव्य और कथा के भीतर से पुनर्मूल्यांकन–पुनःपरीक्षण में प्रवृत्त हों। दूसरी ओर इससे भी ज्यादा जरूरी बात यह है कि हमारे दर्शन विभागों के प्रोफेसरान – जो महज पुरानी बातों के पिष्टपेषण से या पश्चिमी दार्शनिक सिद्धातों पर सेमिनार वगैरह करके, परचे लिखकर ही अपने को कृतकार्य समझ लेते हैं, वे अपने पेशेवर कर्म को स्वधर्म की गरिमा दें। अर्थात् उसे 'भारतीय दर्शन' जैसे गौरवशाली पद के योग्य ठहराने के लिए उन्हें जीवित समकालीन भारतीय साहित्य से भी घनिष्ठ संबंध बनाना होगा। उसके द्वारा उन्मुक्त भाव–ऊर्जा और बुद्धि–ऊर्जा का भी सहयोग लेना होगा। जिस तरह सार्त्र ने साहित्य के लक्ष्य को गंभीरतापूर्वक लिया था खुद साहित्य–रचना में प्रवृत्त होकर; या जिस तरह यास्पर्स ने भौतिक विज्ञानों से और बर्गसां ने जीव–विज्ञान की खोजों से प्रेरित–लाभान्वित होते हुए उस ज्ञान को दर्शन के क्षेत्र का गतिरोध हटाने के लिए प्रयुक्त किया था; या कि जिस तरह हाइडेग्गर ने काव्य – विशेषकर हयोएल्डरडिन के काव्य की गहन गवेषणा करना जरूरी पाया, उसी तरह हमारे दर्शनशास्त्रियों को अपने सृजनात्मक साहित्य की उपलब्धियों के साक्ष्य से जूझना–टकराना होगा। विज्ञानों से भी नितांत मौलिक स्तर पर अपनी ज्ञान–प्रतीक–परम्परा और अनुभव–परम्परा के आलोक में उन्हें टकराना होगा। तभी दर्शन में आया गतिरोध टूटेगा और वे कुछ ऐसा कार्य करने की प्रेरणा पाएंगे जिससे प्राचीन और अर्वाचीन के बीच पुल निर्मित हो; समकालीन

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भारतीय जैसा पद अर्थवान हो सके और भारतीय वाङ्.मय में दर्शन की जो स्थिति रही है– जैसी कि विश्व के किसी अन्य वाङ्.मय मे नहीं पाई जाती– वैसा सम्बन्ध आधुनिक काल में फिर बन सके और समकालीन भारतीय साहित्य ही नहीं, समकालीन भारतीय दर्शन भी भारतीय वाङ्.मय का जीवंत सृजनात्मक ध्रुव बनकर समकालीन विचार–जगत् में अपनी केंद्रीय नहीं तो कम से कम केन्द्रोन्मुख हैसियत बना सके। अपनी प्राचीन गौरवशाली परम्परा का योग्य उत्तराधिकारी सचमुच सिद्ध हो सके – वास्तविक सृजनात्मक उपलब्धि द्वारा।

यह बात एक बार दिमाग में बैठ जाए और के.सी भट्टाचार्य सरीखे दार्शनिक अगुवा द्वारा सूत्रित वैचारिक स्वराज की आवश्यकता के प्रतिपादन का मर्म हम बुद्धिजीवियों को भीतर से पकड़ ले, और वह भी महज सदिच्छा–भावुकता के स्तर पर नहीं, तो हम अपने–आप देखेंगे कि भाषा का प्रश्न महज आवरण या माध्यमभर का नहीं; बल्कि तात्त्विक महत्त्व का है। तब हम देखेगें कि भले अंग्रेजी का भी इस्तेमाल हम अंतर्राष्ट्रीय संवाद के सेतु के रूप में करते रहें– मगर एक तो, संस्कृत की जगह अंग्रेजी नहीं ले सकती, यह हमारे दिमाग में बैठ जायेगा। दूसरे मौलिक सृजन ही नहीं, मौलिक दार्शनिक चिंतन भी केवल उसी भाषा में संभव है जिसमें आपके आंख–कान और दिल–दिमाग पहले–पहले खुलते हैं और जिसमें आपके पुरखों की आवाजें सबसे स्वाभाविक और गहरी गूंज के साथ सुनाई देती हैं, यह बात भी आपकी समझ में पक्के तौर पर जगह बना लेगी। एक छोटा–सा उदाहरण यहाँ पर देना जरूरी लग रहा है।

हिन्दी का एकमात्र समकालीन दार्शनिक, जिसने मुझ सरीखे निरे साहित्यिक जीव को अपनी मौलिक दार्शनिकता से चकित और चमत्कृत किया, वे हैं यशदेव शल्य। उनके अलावा के.जे. शाह और दयाकृष्ण का व्यक्तित्व और कृतित्व भी मुझे नया और स्फूर्तिदायी लगा। इनमें शल्य जी ने अपना सारा काम हिन्दी में किया है बल्कि यह कहना उचित होगा कि यदि हिन्दी में मौलिक दार्शनिक चिंतन की समर्थ भाषा गढ़ने का श्रेय किसी एक व्यक्ति को दिया जा सकता है तो केवल उन्हीं को। अंग्रेजी में उन्होंने कुछ नहीं लिखा – उस तरह अंग्रेजी उन्होंने पढ़ी ही नहीं कभी। दर्शनशास्त्र की तो क्या, किसी भी विषय की कैसी भी कोई उपाधि उन्होंने नहीं ली। फिर भी उच्चतम कोटि का दर्शानिक लेखन उन्होंने किया और सत्ताविषयक अन्वीक्षा, मूल्य–तत्त्व मीमांसा, चित् की आत्मगवेषणा जैसे मौलिक ग्रंथों की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रचना के द्वारा "मैटाफिजिक्स यानी तत्त्वमीमांसा की प्रासंगिकता को नए सिरे से एकदम अपनी जमीन पर प्रतिठिष्त किया। शेष महानुभावों का अधिकांश चिन्तन अंग्रेजी में ही उपलब्ध है। किन्तु अंग्रेजी माध्यम से ही सही,उन्होंने भारतीय चिंतन–कोटियों की प्रासंगिकता को फिर से खोजने–खोलने की उसे नई दृष्टि से देखने की पहल की है। उदाहरण के लिए दयाकृष्ण ने वैदिक–औपनिषदिक वाङ्मय के आलोचनात्मक विमर्श की बड़ी उत्तेजक पहल और परम्परागत पंड़ितों तथा आधुनिक विद्वानों के बीच संवाद–सेतु बनाने के भी प्रयोग किए। के.जे. शाह ने पुरूषार्थों पर नया चिंतन प्रस्तुत किया, भरत के 'नाट्यशास्त्र' पर उल्लेखनीय परिसंवाद आयोजित किया। जे.एल. मेहता का उल्लेख किया ही जा चुका है। यहाँ हम उनके एक विशिष्ट और ठेठ हिन्दी में किये गए कार्य का उल्लेख करना चाहेंगे जो अपने विषय का अनूठा और भारत में संभवतः इकलौता प्रतिपादन है। मेरा संकेत उनकी एक छोटी–सी पुस्तक 'कविकर्म और चिंतन' की ओर है जो अपने आप में भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही परम्पराओं के परिप्रेक्ष्य में काव्य और दर्शन के पारम्परिक सम्बन्ध या अन्तर को उद्घाटित करनेवाली, अन्तर्दृष्टि–सम्पन्न विवेचना है। वैदिक और संस्कृत काव्य के हवालों से जिस तरह यह विवेचन प्रस्फुटित और पुष्ट होता है, अद्यतन ज्ञान–संपदा और वैचारिक परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए, वैसा मैंने कहीं नहीं देखा। यह पुस्तक जितनी साहित्यिकों के काम की है, उतनी ही समकालीन दर्शन के अध्येताओं को प्रेरणा दे सकने वाली भी।

भारतीय वाङ्मय में दर्शन की परम्परा को अद्यतन सजीवता और प्रामाणिकता प्रदान करने का प्रश्न – जैसा कि हमने ही निवेदन किया, आज की महती आवश्यकता है। भारत दार्शनिकों का देश कहा जाता रहा है तो इसीलिए कि दर्शन का यहाँ ज्ञान के क्षेत्र में निर्णयक और सर्वोच्च महत्त्व है। इसका मतलब यह हुआ कि दर्शन की अधोगित से जितनी हानि पश्चिम को हो सकती है उससे कई गुना हानि यहाँ होगी। हाइडेग्गर ने दिखाया ही है कि किस तरह पश्चिमी दर्शन–परम्परा का स्रोत यूनानी दर्शन अपने आरम्भ बिंदु से कुछ ही आगे जाने के बाद दर्शन के वास्तविक लक्ष्य से विचलित हो गया था और किस तरह उसने ऐसी दिशा पकड़ ली थी जिस पर चलकर वह विज्ञान और प्रोद्योगिकी के ही ऐसे विकास को जन्म देने के लिए अन्तर्विवश था जिसका अवश्यंभावी परिपाक परमाणु बम और निहिलिज्म में ही हो सकता था और स्वयं दर्शन के विज्ञान के सामने घुटने टेक देने में।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भारत में उस तरह का विचलन हुआ ही नहीं। यहाँ विज्ञान का विकास भी यदि बीच में अवरूद्ध न हो गया होता तो उसकी गतिविधि विज्ञान के पश्चात्य विकास की दिशा से भिन्न होती। भारतीय दर्शन–परम्परा में वेदान्त के आलावा भी कई दार्शनिक संप्रदाय हैं। सांख्य ही जैसे – बहुत समृद्ध परम्परा है, न्याय–वैशेषिक दर्शनों में भी अपने भीतर से नए कल्ले फोड़ने की संभावनाएँ हैं। बौद्ध और जैन दर्शनों में भी सबसे बड़ी बात – जिसका विटेगेन्स्टाइन के हवाले से हमने संकेतभर किया था, हमारी ज्ञान–पंरपरा के उद्गम पर ही वाक्–शक्ति के विमर्श की, यानी भाषा के स्वरूप के चिंतन की, व्याकरण–शास्त्र की ऐसी अद्भुत खोजें मिलती हैं – जिनके महत्त्व को नए सिरे से दुनियाभर के समकालीन विचारक समझने की चेष्टा कर रहे हैं। यदि, जैसा हमने पहले की कहा – दर्शन के क्षेत्र में गतिरोध टूटने की संभावनाएँ स्वयं भाषा और साहित्य के क्षेत्र से मिल सकने वाली अंतर्दृष्टियों में निहित हैं, ऐसा सब जगह स्वीकारा जा रहा है, तो समकलीन भारतीय दर्शन के पास पहले से यह पुख्ता आधार भाषिक चिंतन–दर्शन का मौजूद है, जिसे उसे नए सिरे से उपलब्ध करना है। साहित्य के स्रोत से मिलनेवाली पुष्टि और प्रेरणा की बात हम कर चुके हैं। उसे दुहराना अनावश्यक है। अंत में, लेख का समापन करते हुए मैं दार्शनिक स्व. जे.एल. मेहता की पुस्तक 'कविकर्म और चिंतन' से एक उद्धरण टाँकना चाहता हूँ जो प्रस्तुत विषय के संदर्भ सटीक और सामयिक लग रहा है :–

"....भविष्य में क्या होगा, हम भारतीय किधर जा रहे हैं, किधर जाना चाहते हैं, इन प्रश्नों का समाधान हमें विश्व–परिप्रेक्ष्य में अपनी वर्तमान स्थिति को स्वीकार करके ही ढूंढना होगा......नई व्यवस्था को आत्मसात् करना उसे दृढ़ करना यदि हमारी व्यावहारिक निष्ठा पर निर्भर है, तो कवि और दार्शानिक की भी यह अतिरिक्त जिम्मेदारी है कि वे उन विस्मृत शब्दों और अर्थों को याद करें, उन्हें निर्ऋति से बचाएँ। जो हमसे दूर हो गया, कट गया, या जिसे हम भूल गए, वह हमारी वर्तमान चेतना से निष्कासित होने से ही असत्, निरर्थक या गूंगा नहीं हो जाता; मौन सत्ता के रूप में, भाव–जगत् में, कहीं–न–कहीं विद्यमान रहता है। उसे आज की चेतना और वास्तविकता से जोड़ना कवि और चिंतक दोनों का अद्यतन योगपथ है।"

एम–4, निराला नगर
भदभदा रोड, भोपाल–462003

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ज्ञान : एक विमर्श

मुकुन्द लाठ

ज्ञान शब्द का प्रयोग कई अर्थों में होता आया है। पर इसका मुख्य अर्थ 'सत् का बोध' और इससे बढ़ कर, 'सत् का यथावत् बोध' समझा जा सकता है। यहाँ ऊहनीय है कि 'सत् का बोध' 'सत् का यथावत् बोध' ही हो सकता है, सत् के अयथा बोध को 'ज्ञान' कहना उपचार ही दीखता है, हालांकि अयथा बोध के लिये भी 'ज्ञान' का प्रयोग होता है क्योंकि 'चेतना' या 'बोध' मात्र के अर्थ में भी 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग होता है। इस अर्थ में ज्ञान को चेतना या चित् के स्वरूप में निहित प्रकाश कहा जा सकता है, और इसके बिना 'ज्ञान' की किसी भी अर्थ में बात नहीं की जा सकती। पर एक और बात है जो ज्ञान को सत् का बोध कहने में निहित है : यह कि सत् का संबंध बोध के विषय से होता है। बोध को हम साधारण तौर पर सविषय ही समझते–जानते हैं– हालांकि हमारे अनुभव में चेतना निर्विषय भी होती है, जैसे सुषुप्ति या मूर्छा में, वहाँ हम 'ज्ञान' की बात नहीं करते, पर यह मानते हुए कि इन अवस्थाओं में भी बोध या चेतना किसी रूप में बनी रहती है। अब, इन अवस्थाओं में चेतना के होने को जैसे भी आँका जाये, पर चेतना की जिस अवस्था में ज्ञान की बात होती है, वह चेतना सविषया ही होती है, विषय से असंबद्ध चेतना या बोध को ज्ञान की कोटि में नहीं रखा जाता (कह सकते हैं कि अध्यात्म–चेतना की बात और है, पर इसकी चर्चा आगे उपयुक्त प्रसंग आने पर होगी)।

ज्ञान–चेतना क्योंकि स्वरूप से सविषया होती है, इसलिये ज्ञान के प्रसंग में यहाँ विचित्र–सा जान पड़ता विरोधाभास उभरता देखा गया है। (या यों कहिये कि सहज ही देखा जा सकता है) : यह कि 'ज्ञान के बिना ज्ञान नहीं होता'। विरोध की प्रतीति इस वाक्य में इसलिये होती है क्योंकि आमतौर पर हम ज्ञान के बारे में यह मानते चलते हैं कि ज्ञान अज्ञान को हटाता हुआ आता है। प्रकाश और अंधकार के रूपक को ध्यान में रखते हुए हम 'अज्ञान' को 'ज्ञान का अभाव' समझते हैं, और ऐसा समझना सहज ही जान पड़ता है। इस सहज से बोध के विपरीत ऊपर की उक्ति यह कह रही

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है कि ज्ञान ज्ञानाभाव का स्थान नहीं लेता– किसी अंधकार को मिटा कर प्रकाश नहीं आता– बल्कि प्रकाश का होना प्रकाश के (विषय–प्रकाश) होने को ऊह्य रखता है : ज्ञान जिस चेतना में उदित होता है, वहाँ ज्ञान का अभाव नहीं होता, हो तो ज्ञान की संभावना ही नहीं बनेगी, हाँ, जो ज्ञान विद्यमान था, वह मिथ्या या भ्रांत ज्ञान के अर्थ में 'अज्ञान' हो सकता है, जिसे नकारता हुआ सत् का ज्ञान उदित होता है, या जिस विषय को अभी अभी जाना उसके बोध का पहले अभाव हो सकता है, पर यह विषय भी यथा या अयथा की कोटियों में ही आयेगा। हमारी उक्ति में मिथ्या या भ्रांत ज्ञान को ज्ञान की ही कोटि में रखा गया है : यह ऊह्य रखते हुए कि विषय–बोध के अभाव में ज्ञान की बात नहीं की जा सकती, और विषय का बोध अथवा भी हो सकता है। फिर यह भी है कि भ्रांत या मिथ्या ज्ञान में ज्ञान का एक मूल लक्षण होता है : उसमें ज्ञान जैसा ही ज्ञान–विषय के होने का अध्यवसाय होता है। ज्ञान–चेतना जब होती ही सविषया! चेतना है, तो इस चेतना में स्वभाव से ही विषय–बोध के अर्थ में ही नहीं, अध्यवसाय के अर्थ में भी ज्ञान रहता है : बल्कि यों कहिये कि हम ज्ञान की बात करते ही तब हैं जब विषय–बोध के साथ यह निश्चय भी संश्लिष्ट हो कि विषय अमुक वस्तु है। सविषया चेतना में – या यों कहिये कि मनुष्य की सविषया चेतना में – अध्यवसाय स्वभाव–प्रतिष्ठ होता है, तभी ज्ञान की बात सार्थक होती है (यों हम आगे देखेंगे कि पशु की चेतना में भी अध्यवसाय का अभाव नहीं होता, हालांकि अध्यवसाय भाषा में नहीं होता, यों, अध्यवसाय विषय–विषयी–भाव के स्वरूप में ही निष्ठ जान पड़ता दिखता है)।

पर ज्ञान की बात हम (मनुष्य ही) करते हैं। और ध्यान देने की बात यह है कि हमारा अध्यवसाय आत्मचेतना को ऊह्य रखता है। पशु में भाषा के साथ ही आत्मचेतना का भी अभाव ही पाया जाता है। जबकि हममें अध्यवसाय के साथ अध्यवसाय का आत्मबोध भी रहता है, चाहे स्फुट न भी रहे– पर स्फुटता की ओर झुका रहता है, हम उसकी ओर अवधान दें तो उसे अनायास स्फुट कर ले सकते हैं। इस व्यापार में चेतना की वह प्रत्यङ्मुखता आगे आती दिखती है, जो कि आत्मचेतना का लक्षण है। इस बात का इंगित ऊपर के 'विरोधाभास' में भी है : अगर ज्ञान ज्ञान को हटाता हुआ आता है तो यहाँ व्यंजना स्पष्ट ही ऐसी आत्मवीक्षक–चेतना की प्रत्यङ्मुखता की ओर है जो उपलब्ध–उपस्थित ज्ञान को विषय बना कर उसका वीक्षण–परीक्षण करती है या कर सकती है, और फिर हम उस ज्ञान का खंडन या मंडन कर सकते हैं। और यह व्यापार अपने और पीछे अगाध की ओर हटता चला जा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सकता है। वीक्षण की यह प्रत्यङ्मुखता हमारे समूचे ज्ञान–व्यापार के आधार में रहती है। तभी ज्ञान को हटा कर ज्ञान की बात स्वरूपेण संभव है। अब, इस व्यापार में अनवस्था सहज ही देखी जा सकती है, जो कि प्रत्यङ्मुख चेतना का स्वभाव है : इसी बात पर नागार्जुन ने प्रमाण–व्यापार में अनवस्था देखी थी। हम पाते भी हैं कि साधारणतः हम वीक्षण के किसी स्तर पर या कोष्ठक पर आकर ठहर जाते हैं, नहीं तो व्यवहार ही संभव न हो, पर प्रत्यङ्मुख वीक्षक चेतना के आत्मवीक्षण करते सोपान पीछे बढ़ते चले जा सकते हैं– थोड़ा भी आत्मवीक्षण करने पर यह बात प्रकट हो जाती है। और यहाँ देखने की बात यह भी है कि हमारी ज्ञान–वृत्ति की यह प्रत्यङ्मुख गति कोरे देखने भर की गति नहीं होती – मैं देख रहा हूँ कि मैं देख रहा हूँ कि मैं देख रहा हूँ ......। ऐसी खोखली नैयायिकों के अनुव्यवसाय जैसी प्रत्यङ्मुखता में दृश्य या वीक्ष्य वहीं का वहीं रहता है, वीक्षक भी वहीं का वहीं रहता है, जैसे दो दर्पणों के बीच खड़ा कोई अपनी आकृति को अन्तहीन कोष्ठों में यों का यों, बिना कुछ बदले, पीछे हटता देख रहा हो। ज्ञान–व्यवहार में ऐसा निर्विकार अनुव्यवसाय नहीं होता। उलटे ज्ञान–व्यापार में हम वीक्ष्य ज्ञान को नई दृष्टि से देखते चलते हैं, उसकी पुनः पुनः परीक्षा–समीक्षा करते हुए बढ़ते हैं, उसे विचार के निर्विराम परीक्षण का अंग बना लेते हैं। संशय करते हैं, प्रश्न उठाते हैं, विमर्श करते हैं, फिर उस विमर्श की विवेचना करते हैं, फिर उस पर विमर्श करते हैं; ज्ञान की इस प्रत्यङ्मुख चारी में सर्वथा नई अन्तःदृष्टि भी उभरती दिख सकती है : यों नये परिप्रेक्ष्य, नये आयाम खुलते जा सकते हैं और ज्ञान में एक वर्धमान व्यापकता भी आ समा सकती है, जहाँ वीक्ष्य एक वृहत् से वृहत्तर ज्ञान–तंत्र का अंग बनता जा सकता है। ऐसे विचार–निष्ठ वीक्षण के बिना ज्ञान के किसी तंत्र या सिंद्धांत की बात ही नहीं की जा सकती। हम सहज ही पाते हैं कि हमारा ज्ञान एक ज्ञान की व्यवस्था बनाने की ओर स्वभाव से ही बढ़ता है। इस प्रक्रिया में ज्ञान के एक व्यापार ही नहीं, एक अगाध, निर्विराम प्रत्यङ्मुख व्यापार होने के लक्षण हैं, और इसीमें इस व्यापार की सार्थकता है। तभी हम ज्ञान के साथ जिस प्रमाण–व्यापार को अविनाभावेन जुड़ा पाते हैं वह भी इस वीक्षकता की तरह प्रत्यङ्मुख होता है – अपने आप को जांचता, बदलता, खोलता चलता है।

ज्ञान की हमारी प्रत्यङ्मुखता भाषा को माध्यम बनाती है। भाषा एक प्रतीक–व्यवस्था है जो हमारी सार्वजनीन सामान्य चेतना में घर करती है और उसे घर देती है। दूसरी भी आत्मचेतन सामान्य–निष्ठ प्रतीक व्यवस्थायें हैं जो दूसरे माध्यमों को काम में लेती हैं, जैसा कि कला में देखा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जा सकता है : संगीत में स्वर, नृत्त में शरीर की मुद्रायें, चित्र में रेखा वर्ण....., ये माध्यम अपनी प्रतीक व्यवस्थायें बनाते हैं; और भाषा की तरह ही इन व्यवस्थाओं में सांस्कृतिक वैविध्य भी देखा जा सकता है। पर इन्हें हम ज्ञान की कोटि में नहीं रखते – इनमें विषय का अध्यवसाय नहीं होता। इनमें भी किसी अर्थ में 'ज्ञान' की बात की जा सकती है। पर उसकी चर्चा यहाँ, इस स्थल पर, प्रासंगिक नहीं है– प्रसंग उठेगा तो आगे करेंगे। जिसे हम सहज ही ज्ञान कहते हैं, उसमें विषय–बोध के साथ होता हमारा अध्यवसाय भाषा में ही रूप लेता है– तभी जगत् भी हमारे लिये नाम–रूप है, और यह बात केवल इन्द्रिय–गम्य विषयों के बारे में ही सच नहीं है, अनिन्द्रिय–गम्य विषय भी, जैसे गणित की संख्या, या ज्ञान के ही ज्ञान और विमर्श को लीजिये, भाषा के बिना हम इनका ग्रहण–धारण नहीं कर सकते, उसके आगे के समीक्षा–व्यापार की तो बात ही दूर। तो, साफ ही 'ज्ञान के बिना ज्ञान नहीं होता', यह बेढब–सा–लगता कथन उस वीक्षक चेतना का है जो विचार–करती चेतना भी है। यह चेतना अनायास अंतर्मुख होती है, और इस प्रक्रिया में उसकी प्रत्यङ्मुख यात्रा उस पर स्फुटतम रूप से आत्म–प्रकट दिखती है। इस दिशा में बढ़ती विचार–चेतना सहज ही भूमा की –व्यापकता की – ओर भी बढ़ती है। उसके आत्म–वीक्षण के वलय में विचार–विषयों का पूरा परिसर समाया रहता है : वह अपने विस्फार में अपने वीक्ष्य के सारे पसारे को ज्ञान के एक सर्व–ग्राही सत् या वस्तु तंत्र में गूथने की दिशा लेती है। दर्शन जन्म लेता है। दर्शन विचार की शिखर साधना है, जहाँ वीक्षक–भाव चेतना के सारे व्यापारों का ही नहीं अपना भी वीक्षण करता है, अपने अतल उत्स की ओर निर्लेप बढ़ना चाहता है। विचार–करती चेतना का यह आत्म–वीक्षण, आत्म–स्वरूप–संधान, हममें स्वभाव–सिद्ध है, आत्मचेतना के साथ ही रूप लेता है। और हम विचार में ही आत्मचेतना की प्रत्यङ्मुखता को सबसे अधिक आत्मस्फुट पाते हैं : विचार स्वरूपेण अपने को अपना विषय बनाता चलता है, अपने को जाँचता–बदलता चलता है। यों तो वीक्षक चेतना को 'वीक्षक' कहने का अर्थ यह उभरता लगता है कि दृष्टि पराक् होती है : विषय–मुखी, चाहे विषय कुछ भी हो (देखना अपने बाहर कुछ का ही हो सकता है)। इससे यह निष्कर्ष भी निकाला जा सकता है कि वीक्षक चेतना विशुद्ध द्रष्टा होती है –या विशुद्ध ग्राहक कहिये– उसका अपना कोई स्वरूप नहीं होता। पर विचार के बारे में स्पष्ट ही, ऐसा नहीं कहा जा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सकता— विचार प्रत्ययों में होता है, जिनके अपने अर्थ अपने संबंध होते हैं जिन पर विचार अपने स्वभाव–निष्ठ आत्मवीक्षण के साथ विचार करता चलता है। आत्म–चेतना के वीक्षण का विचार में निष्ठ होने के कारण वीक्षण की प्रत्यङ्मुखता का यह भी अर्थ है कि वह केवल एक कोरी अपने बाहर–देखती, विषय–सात् आँख नहीं होती, उसका अपना भी स्वरूप होता है, और यह स्वरूप उसका वीक्ष्य भी रहता है। तभी हम ज्ञान का संधान करते हैं, और यह संधान विषय को अपने में समेटते हुए ज्ञान के अपने तंत्र की अपेक्षा रखता है, उसके बिना कल्पनीय नहीं। उभरता यह है कि आत्मचेतन विचार के वीक्षण की अपने–बाहर–देखती पराक्–दृष्टि अपने विषय पर तो निविष्ट होती है, पर वह अपनी ओर प्रत्येक्–दृष्टि रखती हुई पराक् देखती है–तभी ज्ञान एक व्यापक संधान–व्यापार बन पाता है। यह ठीक है कि इस व्यापार में हम विषय के ही सत् की जिज्ञासा से व्यापृत होते हैं– विषय को यथातथ पकड़ लेना चाहते हैं, पर विचार की स्वरूप–निष्ठ प्रत्यङ्मुखता इस व्यापार में विषयी को अंतहीन उभारती भी दिखती है– और इसीलिये हमारी जिज्ञासा भी सांत नहीं होती। हम विचारनिष्ठ ज्ञाता हैं और यों अपने ज्ञातृत्व में हम विषय के साथ ही विषय–ग्राहक चेतना के प्रति भी चेतन रहते हैं, तभी विषय क्या है?, के साथ विषय–ज्ञान क्या है?, यह भी ऊह्य का विषय बना रहता है, और ज्ञान एक निरंतर संधान का रूप लेता है– प्रमाण ही प्रश्न का विषय बना रहता है। इस व्यापार में यह प्रकट उभरता है कि विषय के अपने स्वतंत्र–विषयी से अपरतंत्र – सत् की खोज भी विषयी की जिज्ञासा का अंग होती है। तभी विचार के साथ ही ज्ञान–वृत्ति अतल अगाध में बस जाती है। उत्प्रेक्षा की भाषा में कह सकते हैं कि विचार का आत्मबोध हमारे ज्ञान का बीज तो है पर ऐसा बीज जो एक अतल आकाश को जन्म देता है।

पर ज्ञान का ज्ञान–बाह्य विषय से संबंध होने के कारण आमतौर पर हम उसके व्यापार को पराङ्मुख ही देखते हैं, उसकी प्रत्यङ्मुखता को महत्त्व नहीं देते, उसे अलग सा रख देते हैं– हमारी जिजीविषा और जीवन की व्यवहारसंकुलता हमें इस ओर झुकाती है। इसे हमारी ज्ञान–वृत्ति का सहज संस्कार भी कह सकते हैं। पर बात केवल संस्कार की ही नहीं है, व्यवहार को प्रमा का क्षेत्र और सत् की कसौटी माननेवाले बहुत से सूक्ष्म विचारक भी हैं। ये हमारे ज्ञान का संबंध हमारी जिजीविषा से रखते हैं। हमारी जिजीविषा हमारे व्यवहार में प्रकट होती है, और हमारी ज्ञान–वृत्ति

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उसके भीतर ही सार्थक होती है। उससे भटक जाये तो निरर्थक अति प्रश्नों में उलझ कर विचार के ऊसर में खो जाती है, पाती कुछ नहीं। हमारा ज्ञान भाषा में होता है और व्यवहार में जो कुछ वास्तव है वह व्यवहार के किसी अर्थ का वहन करता है, किसी रूप में व्यवहार के 'काम' का होता है, उसका रूप और नाम एक ऐसे परस्पर–भाव में गुँथे होते हैं कि दोनों को अलग नहीं कर सकते।

अब, यह ठीक है कि हम जिसे साधारणतः ज्ञान कहते हैं, उसका प्रश्न व्यवहार में ही उठता है। पर 'व्यवहार' क्या? व्यवहार के अर्थ को हम निर्विचार ही बड़े संकीर्ण से अर्थ में लेते हैं : सर्व–साधारण दृष्ट जगत् में होता जीवन के हानोपादान का, स्वार्थ और लोकैषणा का क्षेत्र और आचरण, यह व्यवहार है। पर यह भी सोचिये कि विचार, दर्शन, दृष्टि, दृष्टि–भेद ये चेतना के व्यवहार बोध को ऊह्य ही नहीं रखते, व्यवहार क्या हो, यह प्रश्न भी इस चेतना में निहित रहता है। हम व्यवहार–स्थित चेतना में रहते हुए ही जिज्ञासु और परीक्षक होते हैं, प्रमाण–विमर्श करते हैं। प्रश्न उठाना, विमर्श करना यह हमारे व्यवहार का ही अंग होता है। हमारा व्यवहार हमारी प्रत्यङ्मुख आत्मचेतना को ऊह्य रखता है। अपने साधारण व्यवहार–घिरे पराङ्मुख सहज संस्कार के प्रति कुछ जागरूक होने के लिये इस प्रसंग में उस उक्ति को फिर लीजिये जिसे लेकर हम विमर्श को आगे बढ़ा रहे हैं। एक प्रश्न अपने आगे रखिये : जिस उक्ति का हम विचार कर रहे हैं, उसे 'ज्ञान' कहेंगे या नहीं? वहाँ क्या ज्ञान अपने को विषय बनाकर अपने ही स्वरूप को नहीं देख रहा है– विचार की दृष्टि से उसका विषय रूप में वीक्षण करता हुआ उसके स्वरूप को नहीं आंक रहा? क्या ज्ञान–धर्मी विचार ही यहाँ इस अध्यवसाय पर नहीं पहुँचा है कि ज्ञान का व्यापार ज्ञान के होने को ऊह्य रखता है? स्पष्ट ही, इस उक्ति में किसी ज्ञान को दोहराने की, उसकी अनुवृत्ति मात्र की (मैं जानता हूँ कि मैं जानता हूँ......) बात नहीं, ऐसा ही हो तो उक्ति खोखली ठहरेगी – बात यहाँ ज्ञानवृत्ति में रहते हुए ज्ञान के स्वरूप का वीक्षण–परीक्षण है, ज्ञान की ही बात है। बात स्फुट है, पर फिर भी हममें संस्कार यह होता है कि हम सहसा उक्ति को ज्ञान की नहीं, विचार की उक्ति कहना चाहते हैं विचार को ज्ञान से अलग करते हुए। उक्ति को 'ज्ञान' कहना एकबारगी अटपटा, असमंजस लगता है हमें। हम में– विचार का भी– लगभग रूढ़मूल संस्कार है कि विचार ज्ञान से भिन्न होता है, विचार ज्ञान

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पर प्रश्न उठाता है, संशय करता है, विमर्श करता है, मीमांसा करता है, पर विचार को ज्ञान नहीं होता। ज्ञान इन्द्रियों को होता है। पर थोड़ा भी सोच कर देखें तो उक्ति को 'ज्ञान' कहने में आपत्ति क्या? ज्ञान ज्ञान को ऊह्य रखता है : यह ज्ञान क्यों नहीं? ज्ञान को ही विषय बनाता ज्ञान? यह एक अध्यवसाय ही तो है जो ज्ञान के स्वरूप का लक्षण कर रहा है; यह विषय के ही सत् के संधान का फल है। हाँ, यह विचार का भी फल है। पर इससे यही सिद्ध होना चाहिए कि विचार का ज्ञान से अविनाभाव है। इसे ज्ञान से अलग रख कर विचार मात्र कहने का आशय तभी बनता है अगर हम इस पूर्वाग्रह से दबे रहें कि ज्ञान विचार से नितांत भिन्न कुछ होता है– और यह आग्रह हममें सहज होता है, विचारकों में भी देखा ही जाता है। हाँ, हम इस उक्ति के सत् होने पर प्रश्न कर सकते हैं, संशय कर सकते हैं–पर यह सारा व्यापार विचार को ज्ञान से अभिन्न ही दिखाता है। ज्ञान को इन्द्रिय–बोध के कक्षा में रखनेवाले संशय को विचार के ज्ञान से भिन्न होने का लक्षण कह सकते हैं। तभी यहाँ तक कहा गया है कि विचार ज्ञान नहीं होता; उलटे–इन्द्रिय–बोध–से–होते अभ्रांत ज्ञान को वह भ्रांति–ग्रस्त कर देता है (बौद्धों ने विकल्प–विचार–और इन्द्रिय–ज्ञान के बीच यह तात्त्विक भेद किया ही है)। पर भ्रांति तो हर ज्ञान के साथ हो सकती है, यह ज्ञान व्यापार का अंग ही है। बल्कि, 'कोरा, विचार–से–अछूता इन्द्रिय–ज्ञान' किसे कहेगें, यही एक तीखे प्रश्न की तरह उभरता है। और भ्रांति से सर्वथा रहित इन्द्रिय–ज्ञान क्या पशु को भी होता है जो विचार के झंझट से बचा रहता है? उस चिड़िया से पूछिये जो कमरे से बाहर निकलना चाहती है, पर खिड़की के शीशे से बार बार टकरा जाती है, जिस रास्ते आई थी वह नहीं सूझता। हममें ऐसी भ्रांति एक व्यापकतर वीक्षण–और–विचार चेतना का अंग होती है, इन्द्रियाँ जिसके अध्यवसाय के लिये संकेत का द्वार होती हैं। तभी संशय, प्रश्न, प्रमाण–संधान, समाधान (जैसे ठीक दिखा या नहीं, इसके लिये दुबारा नये अवधान के साथ देखना), ये, साफ ही, ज्ञान के साथ अविनाभाव में रहते विचार का अंग होते हैं। पशु की व्यवहार–प्रवृत्ति में भी देखे जा सकते हैं।

पर हम कितना ही तर्क करें, हमारी विचार–प्रवृत्ति यही होती है कि हम अपनी उद्धृत की गई उक्ति जैसे कथन को ज्ञान की नहीं विचार की ही कोटि में रक्खें, और विचार को ज्ञान से अलग। पर ज्ञान अगर हमारी वीक्षक–चेतना को ऊह्य रखता है तो ऐसा करना सार्थक नहीं दिखता, क्योंकि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वीक्षक–चेतना विचार में ही रूप लेती है। पर यहाँ एक दूसरी बात कही जा सकती है। यह कहना कि 'हमारा (मनुष्य का) ज्ञान एक संधान–व्यापार है और आत्मचेतना की प्रत्यङ्मुखता में रूप लेता है' इसे ज्ञान के ज्ञान की ऐसी बात कहा जा सकता है जहाँ 'ज्ञान का ज्ञान' अपने आप में ज्ञान नहीं है, वह ज्ञान का ज्ञान–भिन्न चेतना का विषय हो जाना है। यह चेतना फिर चाहे ज्ञान के साथ कुछ भी करे, उसे विचार में आँके या जाँचे। मूल ज्ञान तो इन्द्रिय को ही होता है, जो ज्ञान फिर अन्य वृत्तियों का विषय बन सकता है, इच्छा का, आवेग या भावना या संवेदन का या संकल्प का या विचार का।

पर यहाँ यह देखिये कि हमारे ज्ञान का अध्यवसाय से अविनाभाव होता है, और अध्यवसाय इन्द्रिय नहीं बुद्धि करती है। फिर, हमारे अध्यवसाय का भाषा के साथ अविनाभाव है। तभी इन्द्रिय जगत् हमारे लिये नाम–रूप है। वस्तु को देख कर हम उसे नाम देते हैं : 'घड़ा है, 'मेज है', 'कलम है'.......। यों ही हम तद्–वस्तु का बोध में धारण करते हैं और उसे पहचानते हैं। न पहचाने तो भी नाम देते हैं : 'कुछ है', फिर पहचान के लिये पूछ सकते हैं, क्या है? पर कुछ और 'क्या' भी नाम ही है–पहचान की बृहद्–पात्रता रखते पहचान ही हैं। इससे यह भी उभर आता है कि नाम का संकेत सामान्य की ओर होता है, जिसका ग्रहण हमारी बुद्धि भाषा के माध्यम से करती है। 'घड़ा', 'मेज'...... की सामान्यता से कुछ और 'क्या' की सामान्यता में अंतर यह है कि 'कुछ' और 'क्या' व्यापकतर सामान्य हैं : 'घड़ा, मेज........ये सब कुछ और क्या में आ जाते हैं। सामान्य में व्यापकता का यह संकोच–विस्तार स्वरूप–निष्ठ है।

बुद्धि के विपरीत, हम समझते हैं कि इन्द्रिय को विशेष का बोध होता है, और हम व्यवहार में पाते ही हैं कि हमारा काम, हमारे जीने–रहने का सरोकार, विशेष वस्तु के साथ होता है : हम विशेष रोटी ही खा सकते हैं, रोटी–सामान्य नहीं। यों सामान्य हमें वस्तु के वास्तव होने को झुठलाता प्रतीत होता भी लगता है। पर हम अगर पूछें कि इन्द्रियों को क्या सामान्य–भिन्न किसी स्वलक्षण विशेष का प्रत्यक्ष होता है (ऐसे विशेष का जो स्वरूपतः स्वनिष्ठ, अन्य–संबंध और अन्य–व्यावृत्ति राहित्य के साथ स्व–मात्र–परिच्छिन्न हो)? तो ऐसे किसी विशेष का ठिकाना हमें नहीं मिलेगा। इन्द्रिय से तो नहीं ही मिलेगा, इन्द्रिय मूक होती है। विचार के बिना इन्द्रिय नहीं बताती कि उसने 'क्या' देखा। स्वलक्षण विशिष्ठ हो भी तो उसकी बात नहीं हो सकती, न कोई पहचान हो सकती है, और इनके बिना उसका कोई बोध भी है, इससे

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हम ही अनजान रहेंगे। उलटे, निकलता यहाँ यह है कि ऐसे विशेष की बात विचार की एक विचार–मात्र–सीमित (ऐब्सट्रैक्ट) धारणा ही है, और वही हो सकती है, और यों वह विचार का एक सामान्य प्रत्यय ही है– और वह भी ऐसा प्रत्यय जिसका विचार के सिवा दूसरे किसी करण से (जैसे इन्द्रिय से) बोध ही नहीं हो सकता। विशेष का प्रमाण यहाँ हम व्यवहार को मान सकते हैं : 'विशेष रोटी वह जो हम खाते हैं'। पर, कहना न होगा ऐसा कहना रोटी का सामान्य लक्षण देना है। यह सामान्य ही रोटी की पहचान बताता है। 'रोटी है' यह पहचान रोटी–सामान्य को ऊह्य रखती है। हम रोटी को अन्य रोटियों में एक रोटी के रूप में देखते हैं, इस सामान्य बोध के बिना हमारे लिये वह रोटी नहीं होगी, और रोटी के बनाने में (जिसके बिना भी रोटी नहीं होगी) यह सामान्य बोध और भी आधारगत है और इसके लिये आटा, चूल्हा, बनाने वाला और उसको बनाने का ज्ञान........., सबका सामान्य होना आवश्यक है, नहीं तो रोटी खाने–बनाने का व्यवहार ही नहीं सिद्ध होगा। हमारा विशेष स्वरूप से सामान्य–दिग्ध होता है।

सच तो यह है कि हमारा ही नहीं पशु का विशेष भी सामान्य–दिग्ध ही होता है – कमरे में आ फँसी चिड़िया के लिये खिड़की खिड़की–विशेष नहीं होती, बाहर निकलने का रास्ता ही होती है, और इसका उसे अध्यवसाय होता है, नहीं तो उसका भी व्यवहार नहीं बनेगा, चाहे चिड़िया भाषा का प्रयोग न करती हो, नाम न देती हो। ज्ञान का सामान्य होना हमारे ही नहीं, पशु के बोध में भी निहित है : जीव–मात्र की जिजीविषा एक लोक को – या एक जगत् को जो उसका व्यवहार लोक कहा जा सकता है– ऊह्य रखती है, जिस लोक की एक योजना होती है, जो तज्जीव–और तत्–जिजीविषा सामान्य होती है, विशेष उस सामान्य के अंतर्गत ही विशेष होता है। यह भी कह सकते हैं कि पशु के लिये भी सामान्य के संकोच और विस्तार की बात सार्थक होती है : वह अपना जोड़ा एक संकुचित समूह विशेष में ढूँढ़ता है, पर उसके भोज्य का विस्तार इससे व्यापक होता है।

पशु के लिये यहाँ मैने 'अध्यवसाय' शब्द का जो प्रयोग किया है, जानबूझ कर किया है। सामान्य–बोध के बिना अध्यवसाय नहीं होता, और अध्यवसाय के बिना अनुमान की बात संभव नहीं। पशु अनुमान भी करते ही हैं। किसी को दण्डोद्यत देख कर डरते हैं, भागते हैं। यों पशु का ज्ञान निःशब्द भाषा में रीते–होने के अर्थ में निर्विकल्प होते हुए भी निर्विकल्पवादी के विशेष

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ग्राहक 'निर्विकल्प' के घेर में नहीं आता। पशु में भाषा का अभाव है। उसमें आवेगों का उद्‌गार करते काकू तो होते हैं, पर ये अंतः स्थिति के ध्वनिमय चिन्ह होते हैं, अंतः स्थिति से उनका संबंध कार्य–कारण का होता है, प्रतीक की तरह तटस्थ अर्थ–परक संकेत का नहीं होता, जैसा कि शब्द का होता है। या बात को यों कह सकते हैं कि पशु में ऐसी भाषा का अभाव होता है जो वर्णन–निरूपण कर सके– किसी अपने आप में सिद्ध–उपस्थित 'तत्' का संकेत दे सके (हालांकि ऐसी वर्णन–करती भाषा का भी स्पष्ट–सा इंगित हम कई पशुओं में पाते हैं, जैसे मधुमक्खी में जो एक घूम–घूमते नृत्य जैसे आचरण से पराग कहाँ, किधर, कितनी दूर, ऐसे तथ्यों का संकेत कर सकती है। पर यहाँ यह भी ध्येय है कि ऐसे तथ्य में अध्यवसाय की उपस्थिति का भी संकेत है)। पर जो भी हो, पशु में नाम–रूप परक ज्ञान का अभाव होते हुए भी उसे ज्ञान सामान्य–परक ही होता है। हाँ, आत्मचेतना के अभाव के कारण पशु को यह ज्ञान नहीं होता कि उसे 'ज्ञान है'; या यों कहिये कि पशु में विचार–चेतना नहीं होती, जो आत्मचेतना की अपेक्षा रखती है। फिर प्रश्न यहाँ यह जागता है कि जहाँ ज्ञान का या 'अध्यवसाय'का आत्मबोध न होता हो, दूसरे शब्दों में, जहाँ ज्ञान में ज्ञान की आत्मचेतना न संभव हो, जैसा कि पशु में होता है, ऐसे ज्ञान को क्या 'ज्ञान' कहना भी चाहिये या नहीं? पानी अपने नियम से बहता है, वह कहाँ जायेगा यह तय होता है, पर हम यह नहीं कहते कि वह जानता है, 'वह कहाँ जायेगा'। पानी में चेतन विषयी नहीं होता जिसके बारे में कहा जा सके 'वह जानता है'। पशु में विषयी होता है, तभी पशु के व्यवहार की बात जा सकती है; पशु विषय–बोध के साथ 'जानता हुआ' कुछ करता है, चाहे इस जानने का आत्मबोध उसे नहीं होता हो। ज्ञान के साथ भ्रम का भी अविनाभाव है : पानी को भ्रम या विभ्रम नहीं होता, पशु को होता है – खुले में टँगे स्वच्छ, पारदर्शी काँच से टकरा कर चिड़िया विभ्रम में पड़ जाती है, उससे महज 'जानने को गहरा झटका पहुँचता है, पर उसके भ्रम में 'यह भ्रम है' ज्ञान के इस आत्मज्ञान की संभावना नहीं होती। उसके मन में कोई प्रश्न नहीं जागता कि यह क्या हुआ? क्यों, कैसे हुआ? यह कैसा धोखा है? अब, ऐसे 'जानने को' 'ज्ञान' कहने से इनकार करने का कोई अर्थ नहीं बनता, पर उसे किसी निम्नतर क्षीणतर अर्थ में ही कहना उचित जान पड़ता है। यों पशु को ज्ञान ही नहीं होता, बड़ा अद्‌भुत, हमारे लिये अल्पकालीन ज्ञान भी होता ही है–जैसा कि उनके सुदूर प्रवासों में ऊह्य

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दिखता है। पर उसे 'ज्ञान' कहना और उसमें ज्ञान के लक्षण देखना, यह हमारी विचार–चेतना का काम है। यों ज्ञान–वृत्ति में स्तर–भेद सामने आता है जिसका संबंध चेतना की पराक् और प्रत्यङ्मुख वृत्ति में बनता दीखता है। हमारे (मनुष्य के) ज्ञान में सत् या तत् का बोध असत् या अतत् व्यावृत्ति को ध्यान में रखता हुआ होता है। तभी हमारे ज्ञान में अध्यवसाय का आत्म बोध होता है, जो भाषा को और यों विचार को कुक्षिगत रखता है। पशु में ऐसा नहीं होता। हममें (मनुष्य में) ज्ञान के साथ यह बोध रहता है, चाहे कभी बहुत स्फुट न भी होता हो, कि 'मुझे ज्ञान हो रहा है, या हुआ था'। यह अध्यवसाय बोध हमारे ज्ञान में अंतर्हित रहता है, तभी हम वस्तु को नाम देते हैं, और यों उसे भाषा और विचार का अंग बना लेते हैं। तभी हम किसी ज्ञान पर संशय कर सकते हैं, प्रश्न उठा सकते हैं, विमर्श कर सकते हैं, एक वृहत् ज्ञान–योजना या ज्ञान–सिद्धांत में उसे पिरोते हैं।

यहाँ इन्द्रिय के ज्ञान पर थोड़ा और ध्यान देते बढ़िये। अपनी ही इन्द्रियों को देखिये। हममें इन्द्रिय एक नहीं अनेक होती हैं। और कहना न होगा कि भिन्न इन्द्रियों के प्रत्यक्ष में हम मूलगत भेद का अनुभव करते हैं; एक इन्द्रिय का अनुभव दूसरी इन्द्रिय से कोटिगत भेद रखता है; भिन्न इन्द्रियाँ अनुभव का एक सर्वथा अनन्य और तदिन्द्रिय–विलक्षण लोक प्रस्तुत करती दिखती हैं। एक के लोक में दूसरी का प्रवेश नहीं : आँख को सुनाता नहीं, कान को दिखता नहीं। जिन्हें हम ज्ञानेन्द्रियाँ कहते हैं उनके बोध में हम कोई परस्पर संबंध ही नहीं पाते : चक्षु, कर्ण, नासिका, त्वचा, जिह्वा (या इनके इन्द्रियत्व की बात करें तो) दर्शन, श्रवण, घ्राण, स्पर्श, स्वाद – इनके स्वगत प्रत्यक्ष नाना ही नहीं, अलग कोटियों में अपनी अपनी तरह से नाना होते हैं। परस्पर पूरी तरह से असमंजस। ज्ञान का ये ही आधार हो तो हमारे व्यवहार का वह एक–और–सर्वमान्य लोक बनेगा ही नहीं जिसमें हम रहते हैं। हम अपने को एक साथ कई भिन्न लोक में रहता पायेंगे, और यही नहीं, हम अपने को अपने बोध–स्वरूप में ही विच्छिन्न पायेंगे – हमारा ग्रहण ही ऐसा बिखरा होगा कि उसमें एकत्व का सूत्र ही नहीं बनेगा, न ग्राह्य का न ग्राहक का। स्पष्ट ही, भिन्न इन्द्रियाँ बोध या ग्राहकता के किसी एकत्व में बसती हैं। इसके बिना वस्तु–ग्रहण की बात नहीं हो सकती – हमारा व्यवहार ही संभव न होगा। यह बात और है कि जिस इन्द्रिय–ज्ञान को हम लोक–स्थित वस्तु की उपलब्धि का साधन कहते हैं : मेज, घड़ा, पेड़, पत्थर, नाला......., इनकी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उपलब्धि में दो ही इन्द्रियों का काम आगे आता दिखता है : दर्शन और स्पर्श। इनमें भी हम दर्शन को ही प्रधान रखते हैं, स्पर्श तो दर्शन के समर्थन का ही काम करता है, अकसर। हम जिस जगत् में रहते हैं, उसे चक्षु–जगत् कहें तो भूल न होगी। दूसरी इन्द्रियों को देखिये : कान का कब वस्तु से प्रत्यक्ष होता है, या जीभ का, या नाक का ? जीभ और नाक तो वस्तु से दूर ही निकलतें दिखते हैं। कान को वस्तु–बोध तो नहीं होता, पर उसका व्यापार परोक्ष भाव से वस्तुबोध के लिये विशेष अवधेय है। भाषा या संगीत (या कोलाहल) का ग्रहण हम कान से करते हैं। इन्हें हम इन्द्रिय–ग्राह्य 'वस्तु' का नाम नहीं देना चाहते। पर भाषा के बिना हमारे लिये वस्तु ही नहीं बनती। इस अवगति के साथ वस्तु–बोध को हम स्फुट ही इन्द्रिय–मात्र के बोध से अलग, विचार की ओर बढ़ते देख सकते हैं। पर इन्द्रियों के बोध में कितना ही भेद हो, इन्द्रियगम्य वस्तु–जगत् हमारे लिये एक ही होता है, इसके बिना न हम बनते हैं, न हमारा व्यवहार। कहना न होगा कि जगत् के एक होने का बोध, और इस बोध के ग्राहक के रूप में मेरे एक होने का बोध, इन्द्रियों को आधार नहीं बना सकता। इसके लिये मन की बात की गई है। कहते हैं कि मन में एकत्व होता है और मन–इन्द्रिय–बोध को एकसूत्रता देता है, उसे वस्तु–बोध में बांधता है। मन को इस रूप में मानें भी तो उसे यहाँ वीक्षक–चेतना के पर्याय के रूप में ही देखना–समझना चाहिये। काम अध्यवसाय का है, और यों विचार का, जिसे हम अपने प्रत्यक्ष के आभार में नाम के रूप में पाते हैं। 'मन' यहाँ अध्यवसाय का प्रतीक है। या यों कहिये कि 'मन' यहाँ विचार का अपने–पर–विचार–न करता आदि–रूप, या पहला सोपान है। नाम इस बोध में अविनाभाव के साथ रहता है और नाम के साथ ही आत्मचेतना की प्रत्यङ्मुखता का द्वार खुल जाता है। अब हम इन्द्रिय–गत बोध के स्वरूप पर विमर्श कर सकते हैं, इस बोध में निहित समस्या को सामने ला सकते हैं, समाधान ढूँढते हुए 'मन' की बात कर सकते हैं। विचार के ये अपने आयाम वस्तु को नाम देने के साथ ही व्यापृत हो जाते हैं। या यों कहियें कि इन्हीं के होते हम वस्तु को नाम देते हैं।

पर पशु में, जहाँ नाम की या भाषा की बात नहीं उठती, वहाँ भी भिन्न इन्द्रियों में बोध का भेद होता ही है। फिर, भिन्न पशुओं में इन्द्रियों की संख्या, उनका सामर्थ्य और ग्रहण शक्ति भी परस्पर–भिन्न होते हैं। पर उन्हें भी वस्तु का बोध होता ही है, नहीं तो पशु का लोक और व्यवहार भी नहीं

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बन सकता। उभरता यह है कि जीव मात्र में एक जगत्–उन्मुख चेतना होती है जो उसके लिये इन्द्रिय के माध्यम से एक जगत् खड़ा करती है। इस उन्मुखता को चित् में निहित जगत्–बोध की उन्मुखता के रूप में देखा जा सकता है। यह चेतना जगत् और उसमें निष्ठ वस्तुओं को एक योजना में स्थित देखती है। भिन्न पशुओं में भिन्न इन्द्रियाँ ही नहीं होती, उनका प्राधान्य भी भिन्न होता है। कइयों में, जैसे चमगादड़ में, चक्षु होती ही नहीं– पर सब के लिये तज्जीव–सामान्य एक वस्तुलोक बनता है, चाहे हमसे बहुत भिन्न होता हो। पर हम यह भी पाते हैं कि ये भिन्न लोक किसी एक ही सामान्य जगत् को आधार बनाते हैं : एक सामान्य चेतना (या चित्) भिन्न पशुओं की इन्द्रियों को भिन्न व्यवहार–लोक बुनने का माध्यम बनाती दिखती है। जगत् की इस सर्वसामान्यता के बोध के बिना भी हमारा जगत्–बोध नहीं बनता। भिन्न जीवों के भिन्न लोक एक ही विराट जगत् को ऊह्य रखते दिखते हैं। हमारे जगत्–बोध में यह निहित है कि भिन्न जीव–जगत् या लोक, ये बनते एक ही सामान्य परिसर या ब्रह्मांड में हैं। हममें तो यह बोध जगता ही है, पर पशु में भी इसकी कल्पना सहज है : भिन्न पशुओं की, या कहिये कि जीवमात्र की, परस्परता इस ओर इंगित करती है : पशु के भीतर उसी जगत् में रहते दूसरों का बोध बड़ी गहराई से बना रहता है– उसकी जिजीविषा के हानोपादान का अंग होता है। फिर, चेतना के ग्रहण की सामान्यता जो मनुष्य और पशु दोनों के व्यवहार में ऊह्य है, उसका भी यही संकेत जान पड़ता है– तभी जीव मात्र के व्यवहार को एक सामान्य और सबके–लिये–वहीं' जगत्–परिसर बनता है। इस सर्व–सामान्य के होने का बोध जीवन–चेतना की उन्मुखता में ही कीलित–निहित रहता है। इन्द्रिय–बोध उसी में मूलित होता है, उसको ऊह्य रखता है। तभी हम भिन्न इन्द्रियों में वस्तु–ज्ञान की दृष्टि से अभेद करते हैं और प्रत्यक्ष वस्तु को एक सर्व–सामान्य जगत् में रखते हैं।

विचार की स्थिति यहाँ विचित्र रूप से दोहरी उभरती दिखती है। कारण विचार का आत्म–वीक्षक होना है। हमारी चेतना में विचार का एकस्तर है जो हमारे लिये इन्द्रियों के माध्यम से प्रत्यक्ष जगत् प्रस्तुत करता है – वस्तुओं को एक ही देश–काल के परिसर में रखता हुआ उन्हें नाम देता है, उनमें गुण–धर्म और संबंध देखता है, एक व्यवहार–लोक प्रस्तुत करता है, उसमें व्यापृत होता है। उस व्यवहार–लोक का ज्ञान इस व्यापार का अंग

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

होता है। इस चेतना को प्रत्यङ्मुख भाषा में रूप लेती आत्मचेतना का निम्नतम स्तर कह सकते हैं। इसे विचार–चेतना का सहज पराङ्मुख भाव भी कहा जा सकता है, या चेतना की स्वभाव जगत्–उन्मुखता कहिये। पशु–चेतना में और इसमें अंतर आत्मचेतना का होना और आत्मचेतना की प्रत्यङ्मुख संभावना की है। तभी हम विचार में ही वीक्षण कर सकते हैं : इसकी आद्य जगत्–प्रस्तुति के स्वरूप को समझने की ओर बढ़–सकते हैं जैसा कि बौद्धों ने और कांट जैसे विचारकों ने अपनी–अपनी तरह से किया ही है। हमारी यह आद्य जगत्–निर्मिति इन्द्रिय से संकेत भर लेती है– या यों कहियें कि इन्द्रिय इस प्रस्तुति का आद्यतम माध्यम बनती है।

लक्षणीय है कि कर्मेन्द्रियों के माध्यम से इन्द्रिय इस प्रस्तुति में लिप्त–प्रवृत्त रहने का भी माध्यम बनती है, और स्पष्ट ही इन्द्रियों के ये दोनों व्यापार युगनद्ध हैं। पशुओं में तो चेतना यही करती और यहीं तक सीमित दिखती है। पर आत्मचेतना अपने पीछे मुड़कर अपने को देखने लगती है तो हमारे लिये जगत् की प्रस्तुति में भाषा और विचार के साथ जगत् से तटस्थता का भाव भी आ समाता है – हम जगत् से अलग खड़े होकर उसे विषय बना पाते हैं : यही हमारे ज्ञान की भित्ति है। पशु का 'ज्ञान' जगत्–निमग्न रहता हुआ ही जगत् को 'जानता' रहता है। पर हम अपने विचार–बुने जगत् को विचार के दूसरे स्तर पर देखते–जांचते हुए उसे व्यवहार मात्र से अलग रखकर उसके तत् की जिज्ञासा भी करते हैं, और यों उसे स्वतंत्र ज्ञान का विषय बना सकते हैं, और बनाते हैं। हमारा यह ज्ञान जगत् के 'अपने' स्वरूप में पैठने की ललक रखता है। हाँ, ज्ञान की यह दिशा हमें व्यवहार में भी – जगत् को बरतने में – अधिक कौशल दे सकती है, जैसा कि हम विज्ञान में पाते हैं। पर यह व्यापार जिस आत्म–वीक्षक ज्ञान–वृत्ति को ऊह्य रखता है, वह विज्ञान तक, या हमारे इन्द्रिय–प्रदत्त जगत् तक सीमित नहीं होती, क्योंकि हमारी चेतना में अब इन्द्रिय–जगत् और उस जगत् में डूबी जिजीविषा से ऊर्ध्व भी एक क्षितिज आ खुलता है।

पर हमारी जिज्ञासा की सबसे गहरी आकृति हमारे ही स्वरूप के प्रति होती है : चेतना अपनी ओर मुड़ती है तो अपने को जानना चाहती है। तभी आत्मानं विद्धि, यह ज्ञान की उत्कटतम एषणा है। यह एषणा चेतना के संपूर्ण पर व्याप्त होती है। चेतना प्रत्यङ्मुख गति अपने वीक्षण के आत्मवीक्षण पर ही नहीं, प्रवृत्ति–सर्वस्व को अपने वलय में लेती दिखती है। तभी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आत्मचेतना के साथ मनुष्य की जिजीविषा ही एक ऊर्ध्वतर आयाम का और उसकी संभावनाओं का आकाश पा लेती है। पशु–सुलभ प्रवृत्तियाँ मनुष्य में होती हैं, उनमें एक विकट उच्छृंखलता भी आ समाती है जो पशु में नहीं होती, पर उनमें अब एक अपूर्व अंतर्मुखी यात्रा की पथचारी भी रूप लेती दिखती है। ज्ञान की वीक्षण वृत्ति से भिन्न प्रवृत्तियों को कर्म और भाव की कोटियों में रखा जा सकता है। चेतना में प्रत्यङ्मुखता के साथ ही एक स्वातंत्र्य भी आ समाता है – जिसे चेतना को अपनी ओर मुड़ कर अपने ही प्रति बढ़ने का लक्षण कहना चाहिये। इसे चेतना का अपनी नितांत बाह्योन्मुखता के वश से निकल कर अपने 'स्व'–कीय तंत्र की प्रतिष्ठा की ओर मुड़ने का व्यापार भी कहा जा सकता है। हम देखते हैं कि कर्म कोटि तो पशु में होती ही नहीं। यह श्रेयबोध के साथ जागती है, जो आत्मचेतना में सहसा रूप लेता है। तभी मनु ने धर्म को मनुष्य का व्यावर्तक लक्षण कहा है, जो उसे पशु से अलग करता है। भाव भी अब जिजीविषा के आवेग मात्र से उठकर एक नया क्षितिज पा लेता है : हानोपादान मात्र से ऊपर उठते, 'अहैतुक' प्रेम, भक्ति, करूणा, मैत्री....... अपनी अपूर्व–अगाध संभावना के साथ जाग उठते हैं। हमारा जीवन, हमारा व्यवहार ही अब पशुवत् सिद्ध ही नहीं रहता, साध्य हो जाता है। कर्म और भाव में से भी हम वस्तु का – सत् का ही संधान करते हैं, विवेक जगाते हैं, प्रमाण ढूँढते हैं, वैसे ही जैसे ज्ञान में। कर्म और भाव ज्ञान की तरह वीक्षकता की वृत्तियाँ नहीं हैं। इन वृत्तियों को हो कर पाने की वृत्तियाँ कहा जा सकता है ('पाना' उस अर्थ में जिसमें 'अवगम' का अर्थ भी 'पाने' में कुक्षिगत रहता है)। तभी हम पाते हैं कि इन वृत्तियों में भी, इनके भीतर ही, एक तटस्थ–भाव बनता है, जो कि इनके अर्थ–संधानी होने का आधार होता है, अर्थ–संधान के लिये ऐसा आत्म के गर्भ में बनता द्वैत अनिवार्य है। अब, कर्म और भाव के संधानों को ज्ञान की कोटि में तो नहीं रख सकते, क्योंकि इनका संबंध विषय के स्वरूप से नहीं, विषयी के अपने होने से है, पर इनमें भी आत्मचेतना की अपने से निवृत्त होकर अपनी ओर अभिमुख होने की स्वभावगत शक्ति होती है। यह विषयी के भीतर ही जगाती आत्मविवेक की आंख होती है, या यों कहिये कि विषयित्व के भीतर ही उभरता अपने प्रति निवृत्ति का भाव होता है जो आत्म के (चेतना के) आत्मचेतना होने के साथ आत्म में उभरते द्वैत्य के कारण सर्व–वृत्ति व्याप्य होता है। हमारी वीक्षक विषय–वृत्तिक विचार–चेतना, इन्हें भी विषय बना सकती है, और बनाती है, और इनके स्वभाव–स्वरूप को आंकने का संधान

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

करती है। इस संधान को हम 'ज्ञान' कह सकते हैं और कहते भी हैं। ऐसे ज्ञान के लिये भाव और कर्म सिद्ध–प्रदत्त होते हैं, इनकी साध्यता भी इनके सिद्ध–प्रदत्त स्वभाव के रूप में झांकी–समझी जाती है। पर इन वृत्तियों के अपने अंतः साध्य स्वभाव में भी ज्ञान–भिन्न अर्थ–मुखी प्रत्यङ्मुख विवेक–वृत्तिता प्रकट होती है। इनकी इस साध्यता के अर्थ को विषयी का या आत्म का अपना स्वरूप या आत्मार्थ कहा जा सकता है (क्योंकि यह स्वरूप आत्मा के रूप में हम पर प्रकट होता है, इसी रूप में हम उसे साधते–पाते हैं, उसका 'अनुभव' करते हैं)। ज्ञान–वृत्ति में भी साध्यता होती है, वह भी संधानी वृत्ति ही है, पर उसकी साध्यता ही उसे विषयी से बाहर, विषय की ओर अभिमुख करती है, विषय को स्वतंत्र–स्वप्रतिष्ठ रखते हुए ही ज्ञान–वृत्ति वीक्षक होती है। तो भी, ज्ञानवृत्ति की साध्यता और इस की साधना, विषयी–निष्ठ ही होती है, और इसका हमें बोध रहता है।

कर्म और भाव के साध्य अर्थ इन वृत्तियों की ओर ही प्रत्यङ्मुख करते दिखते हैं, पर इनका ज्ञान से गहरा साम्य भी प्रकट है : इन क्षेत्रों में भी हम वस्तु या सत् की ही तलाश करते हैं, विषय और वस्तु में विवेक और इसके लिये प्रमाण–कांक्षी ही नहीं होते, साक्षात्कार–संधानी भी होते हैं। ये ज्ञान के ही लक्षण हैं। इन्हीं के क़ारण अचंभा नहीं कि आध्यात्म–साधना–लब्ध साक्षात्कार को 'ज्ञान' कहा जाता है। हम यह भी पाते हैं कि ज्ञानधर्मी विचार – ऊह में, युक्तिबोध में बसता विचार– भी इन वृत्तियों के अपने अर्थ–संधान में जागता हुआ इनका संगी होता है। कह सकते हैं कि ऐसा विचार प्रत्यङ्मुख चेतना के सभी संधानों का संगी होता है। हमारी आत्मचेतना मात्र पर जैसी बोधमयी व्याप्ति आत्म–वीक्षक विचारवृत्ति में है वैसी हमारी अन्य किसी वृत्ति में नही है, तभी दर्शन और उसकी व्यापकता संभव होती है। कर्म और भाव की प्रत्यङ्मुखता विषयी को आत्मसाध्य बनाती हुई व्यापृत होती है, उनके विषय 'विषयी के लिये' या स्पष्टतः विषयी–सापेक्ष ही नहीं, विषयी–परतंत्र होते हैं, उनको विषयित्व के बिना समझा नहीं जा सकता। पर हम यह भी देख सकते हैं कि इनके स्वरूप और सत्य की जिज्ञासा विचारवृत्ति में आत्मप्रकट रहती हैं, वैसे ही जैसे ज्ञान की (तभी हम कर्म और भाव के आदर्श बना पाते हैं, उन्हें जांचते परखते हैं)। प्रश्न, संशय संभावना का अनैक्य, साध्य का आदर्श–रूप होना – ये विचार–वृत्ति में स्वभाव–निहित हैं, और ज्ञान के संधान में ही नहीं, भाव और कर्म में भी निहित पाये जाते हैं। ये आत्मचेतन संधान मात्र में ऊह्य हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यही ठीक है कि ज्ञान की वीक्षक–प्रवृत्ति कर्म और भाव से भिन्न होती है : ज्ञान पूरी तरह विषय–मुखी रहता हुआ, विषय के अपने यथातथ को जानना चाहता है। पर विषयी–निष्ठता उसके विचार–नद्ध होने में ही प्रकट है। हमारे ज्ञान के विचार से अविनाभाव को विचार में आत्मप्रकट देखा भी जाता ही है। यही नहीं, विचार के आत्मचेतन आयाम में इन्द्रिय–प्रत्यक्ष की वस्तु भी इन्द्रिय से स्वतंत्र होती देखी जा सकती है। आत्मचेतना के साथ वस्तु का सामान्य जब वीक्षण के व्यापक क्षेत्र में आ जाता है तो उसके तत् को हम अन्य सामान्यों में रख कर देखते हैं, इसीलिये, 'वह/यह क्या है' का प्रश्न उठाते हुए हम उस 'क्या' का लक्षण कर सकते हैं : 'घड़ा जल–धारण के लिये बनाया गया गोल आकृति का एक पात्र है'। हम सामान्यों के संकोच–विचार की बात कर चुके हैं। कोई भी सामान्य, कितना ही संकुचित क्यों न हो, वह स्वभाव से ही अन्य सामान्य व्यावृत्त होता है। वीक्षकता में जागता सामान्य चेतना का विषय बनाता है तो स्वभाव से ही तत् और अतत्– या 'है– और 'नहीं है' – के द्वैत में निष्ठ दिखता है। तभी हम किसी तत्–वस्तु को अतत् से अलग करके ही उसे समझ सकते हैं : उसका लक्षण करने में यही प्रक्रिया स्फुट होती दिखती है : अतत् से अपोह या व्यावृत्ति के बिना तत् का लक्षण नहीं हो सकता, क्योंकि तत् होने का बोध – उसका भाव–ज्ञान – उसमें अतत् के अभाव–ज्ञान को युगनद्ध रखता है। अवधेय है कि लक्षण–बोध के साथ ही 'घड़ा' – या 'घट'–बृहत्तर सामान्य के परिप्रेक्ष्य में ही नहीं खड़ा हो जाता, अब वह घट–व्यावृत 'अघट' के निस्सीम, अनिर्धार्य क्षेत्र के बीच उभरता दिखता है। क्योंकि 'घड़ा' क्या है? यह प्रश्न उसे अघट–व्यावृत्त करते हुए ही उठ सकता है। और 'अघट' विशुद्ध विचार की ही वस्तु है – बल्कि विचार को भी परे ले जाते दीखती है : 'अघट क्या हैं?' यह प्रश्न विचार द्वारा भी निर्धार्य नहीं है। नाम के साथ ही विचार का यह द्वार अपावृत्त हो जाता है। इन्द्रिय प्रकट ही विचारगत वस्तु के लिये संकेत भर रह जाती है।

'अतत्' विशुद्ध विचार की वस्तु है, उसके इन्द्रिय–प्रत्यक्ष की बात ही नहीं की जा सकती। पर विचार के लिये भी 'अतत् क्या?', यह एक पहेली जैसा प्रश्न ही रहता है। यों तो किसी वस्तु को 'तत्' (या 'यह', 'वह') कहना ही उसे ऐसे परम सामान्य की कोटि में ला देता है कि वह प्रत्यक्ष के परे निकल कर विचार के क्षेत्र में आ जाती है, पर, चलिये, हम तत् को (तत्

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सामान्य को) ऐसी वस्तुओं से ही जोड़ें जिन्हें उंगली उठा कर विविक्त दिखाया जा सकता है और तत् के अर्थ को ऐसे ही तत्–समग्र का पर्याय मानें–कहें, तो भी 'समग्र क्या'? और फिर उसके प्रत्यक्ष का अर्थ क्या? ये प्रश्न ही रहेंगे, और 'जगत् क्या?' इस टेढ़े प्रश्न की ओर स्वतः ले जायेंगे। जगत् एक अवयवी है जो अंगुली–निर्देश्य तत् का समूह या समग्र मात्र नहीं हो सकता। जगत् क्या? यह प्रश्न विचार का ही प्रश्न हो सकता है। पर लक्षण–कर्म के लिये भी तत् को इन्द्रिय–गम्यता तक सीमित रखने का अर्थ नहीं : क्या घट को हम घट संख्या से व्यावृत्त नहीं करना चाहेंगे, या अपने लक्षण–कर्म से, या भाषा के उन प्रत्ययों से जिनमें लक्षण किया जा रहा है? कोटियाँ विचार में बनती हैं, और कोटि–गत व्यावृत्ति विचार में ही होती है। अब ऐसे प्रश्नों का इन्द्रिय के पक्ष में भी उत्तर दिया जा सकता है, और दिया ही गया है, पर यह सारी बात विचार ही करता है।

यहाँ एक बात फिर से की जा सकती है। अपनी पुरानी उक्ति पर लौटते हुए उसमें व्यंजित ज्ञान की प्रत्यङ्मुखता को हम इन्द्रिय–बोध की ही पुररुक्ति और उसके समर्थन–असमर्थन के रूप में फिर से देखने का प्रयास कर सकते हैं – व्यवहार को ही कसौटी रखते हुए। 'मैं घड़े को देख रहा हूँ, इस देखने को देखने को देख रहा हूँ, देखने के देखने को, देख रहा हूँ....', इस सारी प्रक्रिया में घट का 'देखा जाना' ही प्रधान होता है। इस प्रक्रिया में घट का प्रत्यक्ष–बोध और दृढ़–प्रखर होता है, या फिर और सूक्ष्मता से हमें देखने को प्रेरित करता हुआ घड़े के देखने को भ्रांत और घड़े को मिथ्या ठहरा दे सकता है। यहा सारा व्यापार इन्द्रिय को और उस माध्यम से हमारे व्यवहार और व्यवहार की मांग को ही केन्द्र में रखता है। इस केन्द्र में खड़े होकर हम कह सकते हैं कि ज्ञान की प्रत्यङ्मुखता का यही वास्तव काम है, क्योंकि ज्ञान हमारे व्यवहार का अंग होता है, विचार की निठल्ली कल्पना का नहीं।

पर, स्पष्ट ही, हम प्रत्यङ्मुखता को यों, 'अनुव्यवसाय' के रूप में संकीर्ण कर देने के विपरीत मार्ग पर चल रहे हैं। पर यहाँ भी देखते चलिये कि अनुव्यवसाय में भी ज्ञान की इन्द्रिय–विषय से आत्मचेतन स्वतंत्रता तो प्रकट ही है। अनुव्यवसाय विषयी को विषय से अलग आत्मप्रकाशित करता है। यह भी दिखाता है कि ज्ञान का संबंध स्पष्ट ही विषयी–चेतना से है, चाहे ज्ञान के समझने में हमारी प्रवृत्ति विषय को केन्द्र में रखना चाहती हो (जैसा कि अनुव्यवसाय की धारण से भी उभरता ही है)।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पर ऐसा कहने में एक उत्प्रेक्षा व्यंजित रहती है– और कही नहीं भी जाये : यह कि विषयी विशुद्ध निःस्वरूप ग्राहक होता है। या यों कहियें कि 'सच्चा' विषयी ऐसा होता है –तात्पर्य यह कि उसे ऐसा होना चाहिये, क्योंकि अन्यथा विषयी का अपना स्वरूप विषय के स्वतंत्र स्वरूप के ग्राहक में बाधक होता है : विषयी अपने राग–द्वेष, इच्छा अंहकार, मतामत के मोह में डूबा, विषय को यथा–स्वरूप देखने में अक्षम रहता है। 'ज्ञान बिना ज्ञान नहीं होता' वाक्य में ज्ञान के पहले प्रयोग का इसी मोह–जन्य भ्रांति या मिथ्या–बोध की ओर भी इंगित देखा जा सकता है। तो, विषय के स्वरूप का बोध तभी हो सकता है जब विषयी का अपना स्वरूप आड़े नहीं आये, वह विशुद्ध, स्वरूप–हीन ग्राहक हो। पर फिर यहाँ एक गहरा प्रश्न सामने आता है : निःस्वरूप विषयी के क्या मानी? निःस्वरूप विषयी का अर्थ विषयी का अभाव तो नहीं हो सकता। क्योंकि विषयी के बिना ज्ञान की बात ही निरर्थक होगी। अर्थ यही उभरता दिखता है कि निःस्वभाव विषयी ऐसा विशुद्ध द्रष्टा होता है (या उसे ऐसा होना चाहिये) जिसके वीक्षण में विषय–ग्रहण के सिवा अपना कुछ नहीं होता, वह ग्राहक मात्र होता है, अन्य कुछ नहीं। ज्ञान को जो वस्तुतंत्र कहा जाता है, उसका भी यही अर्थ उभरता दिख सकता है। तभी वस्तुतंत्र ज्ञान के विषयी को दर्पणवत् समझा जाता है, जिसका ज्ञानवृत्तिक ग्रहण बस इतना ही करता है कि वस्तु को ग्राहक–बोध पर यथातथ प्रतिबिंबित कर दे। दृष्टांत यहाँ चक्षु–प्रत्यक्ष का लिया जाता है। (जैसा कि शंकर ने भी किया है) सामने पेड़ खड़ा हो तो वह हमारी ज्ञान–चेतना पर स्वतः प्रकाशित हो जाता है, इसके लिये चेतना के विषयी को करना कुछ नहीं होता – बस, उसका तत्काल इन्द्रियगत दोष और मोह या प्रमाद से अस्पृष्ट होना काफी है। ज्ञान के विषयी को यहाँ निःस्वभाव कह सकते हैं – बस उसका दोष ही उसके विशुद्ध द्रष्टा भाव के आड़े आ सकता है और ऐसा दोष भी ज्ञान–वृत्तिक, पुरूष्र–वृत्तिक, व्यक्ति वृत्तिक कह सकते हैं। यहाँ दर्पण की जगह कैमरा का भी उदहरण लिया जा सकता है (वहाँ भी कैमरा–वृत्तिक दोष हो सकता है)। कैमरे के उदाहरण से यह और स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान में निहित स्वतंत्र प्रत्यङ्मुख वीक्षण–समीक्षण का यहाँ निषेध है (यह सोचिये कि कैमरे के दोष का देखना स्वतंत्र प्रत्युङ्मुख दृष्टि की स्वतः माँग करता है)।

इस प्रसंग में विषयी–विषयक एक विरोध – या चाहे तो विरोघाभास कहिये – भी आगे आता दिखता है। विषयी को शुद्ध ग्राहक मानने की बात उठती इसलिये है कि विषय के सत् को हम विषयी निरपेक्ष मानना चाहते

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हैं। और मांग हममें गहरी है–इसके बिना विषय के यथातथ स्वरूप की बात ही बनती नहीं दिखती। विषय सत् तभी हो सकता जब वह विषयी का आभास या प्रतीति या कल्पना मात्र नहीं हो, विषयी की स्व–गत विषय–चेतना के परतंत्र नहीं हो, अपने आप में स्वतंत्र, स्वप्रतिष्ठ हो। या यों कहिये कि चाहे उसका ज्ञान हो या न हो, वह हो। हम देख ही सकते हैं कि ज्ञान की (विषय के यथावत् बोध की धारणा में ही विषय के सत् होने के साथ उसका स्वतंत्र होना पिहित है, अनिवार्य है। और यह बोध ही विषय को विषयी के संश्लेष से अलग कर देना चाहता है। अपनी पराकाष्ठा में यह अपेक्षा विषय–रूप वस्तु को यहाँ तक विषयी से हटा देना चाह सकती है कि विषयी ही हट जाये, यहाँ तक कि उसका होना नकार दिया जा सके। विज्ञान में यह प्रवृत्ति साफ देखी जा सकती है। पर ऐसी विषय–के–सत्–को–स्वतंत्र करती धारणा में स्वतोविरोध भी स्पष्ट ही है – क्योंकि विषयी के बिना भी ज्ञान की बात नहीं खड़ी होती। विषयी का निषेध संभव नहीं है। विज्ञान को ही लें। विचार–गठित सिद्धांत के बिना विज्ञान ही क्या? विज्ञान अपने को निर्विकल्प कहता नहीं है, पर लगता है कि वह भी एक उद्भट अनहोना निर्विकल्प ही साधना चाहता है, इन्द्रिय के साक्ष्य को ही आधार मान कर। उसके लिये इन्द्रिय ही प्रमाण है, जो स्वरूप से मूक, विकल्प–रीती होती है। पर साथ ही कहा जा सकता है कि विज्ञान इस निर्विकल्प को बड़े विपुल वाक्–विस्तार के साथ वाणी देने का महत् प्रयास है। उसका आरंभ ही इन्द्रिय–प्रत्यक्ष की आलोचना से होता है– इन्द्रिय–लब्ध वर्ण, गुण, गंध स्वाद को वह अपने विचार की पहल में ही अवस्तु–ग्राहक मान कर नकार देता है! फिर वस्तु क्या, इसको परिणाम–परक समझता–ठहराता हुआ, गणित के आधार पर जटिल सिद्धांतों की रचना करता है – उस गणित के आधार पर जिसकी 'वस्तु' संख्या, दिक्–हीन बिन्दु, रेखा जैसी... परम निरिन्द्रिय स्वभाव की, विशुद्ध विकल्पमय होती है। कहना न होगा कि विज्ञान के लिये विकल्प–बोझिल सिद्धांतों के बिना इन्द्रिय का अपना 'निर्विकल्प' निरर्थक– और यों अलीकवत् असत् – ही ठहरता है। फिर भी विज्ञान में हम देख सकते हैं कि विषय का स्वतंत्र और सत् ज्ञान आत्मप्रतीप मांग करता है कि ज्ञान–विषयी हो पर नहीं–होता–हुआ हो। प्रमाण–साधना के मूल में ही विचित्र सी अपेक्षा जड़ करती दिखती है। पर विषयी के शुद्ध ग्राहक होने की मांग का इससे अधिक अर्थ बनता नहीं दिखता कि विषय–ज्ञान के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संधान में ग्राहक अपने व्यक्तिगत स्व से ऊपर उठा रहे : आवेग, मोह, मद, आग्रह....से मुक्त रहे। ज्ञान का ग्राहक विषयी का स्व नहीं, उसका वह सामान्य ज्ञातृत्व होता है जो निर्वैयक्तिक होता हुआ व्यक्ति–सामान्य होता है। यह अपेक्षा ज्ञान मात्र में होती है। पर यहाँ इन्द्रिय–प्रत्यक्ष को ही लें। अपनी इन्द्रिय के सत्–ग्राही होने के भीतर ही हम यह अपेक्षा पालते हैं कि अन्य को भी वह वस्तु वही वस्तु दिखे जो हमें दिख रही है। पर इस सामान्य चेतना की ग्राहकता भी भाषा में, और यों विचार में, तो बसती ही है। विशुद्ध, निःस्वभाव विषयी के ज्ञान की बात का कोई अर्थ नहीं बनता। हम चेतना के विशुद्ध बोध–स्वरूप या चित–स्वरूप की बात कर सकते हैं, जिसके बिना उसका विषयित्व ही संभव नहीं। पर तब उसमें विषय–विषयी–भाव की – और यों ज्ञान की बात नहीं हो सकेगी। हाँ, ज्ञान–चेतना को 'साक्षी' कहा जा सकता है। पर साक्षीभाव विशुद्ध चित् की अवस्था नहीं होता। उसमें प्रत्यङ्मुख वीक्षण की तटस्थता होती है, पर यह साधारण साक्षी–भाव की तरह ही वीक्षक के साथ परीक्षक भी होती है। सच पूछें तो साक्षी–भाव की तटस्थता भी एक आदर्श होती है जो हमारे अन्य साध्यों की तरह जिज्ञासा–वृत्ति के लिये साध्य ही रहती है।

ज्ञान–वृत्ति में निहित विषय–विषयी–भाव के साथ उसके वीक्षक या साक्षी भाव को ध्यान में रखें तो सत् की जिज्ञासा के मूल में ही हम ज्ञान की एक और स्वरूप–निष्ठ, और यों चिरन्तन, पहेली का संकेत पा सकते हैं। हम देख चुके हैं कि विषय विषय–रूपेण विषयी की अपेक्षा रखता है : 'विषय–रूपेण अपने आप में कुछ है' यह बोध आखिर विषयी का ही बोध है। बोध में जिस विषय की उपलब्धि होती है उसका बोध से अविनाभाव रहता है, बोध के बाहर वह अपने आप में है या नहीं, यह प्रश्न ही रहता है। बोध के प्रकाश में आभासित विषय, बोध से बाहर भी अपने आप में है, यह निर्णय बोध के प्रकाश में ही किया जा सकता है, अन्यथा नहीं। और अगर विषय जागता ही विषयी के बोध में है – इस बोध के बिना उसके होने–न–होने की बात ही संभव नहीं तो फिर यह मूलगत प्रश्न असमाधेय सा बना रहता है कि विषय क्या अपने आप में स्वतंत्र, स्वप्रतिष्ठ कुछ है भी क्या? यह ठीक है कि वह प्रतीत होता है, पर इससे तो वह प्रतीति–सर्वस्व भी ठहर सकता है! यों विषय के स्वतंत्र, विषयी–निरपेक्ष–रूपेण स्वप्रतिष्ठ होने की बात भ्रांत ठहरती लग सकती है, क्योंकि विषय की प्रतिष्ठा ही

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विषयी की अपेक्षा रखती है। उसे विषयी से निरपेक्ष कहना विषयी की ही आस्था या श्रद्धा कहला सकती है जिसे अनायास भ्रांत ठहराया जा सकता है, क्योंकि विषयी के बिना विषय की कल्पना ही संभव नहीं। विषयी के बिना वह किसी असंभाव्य रूप में हो भी तो अंध तमस् ही हो सकता है। विषयी–चेतना में ही वह 'है' के रूप में आगे आता है। हमारी ज्ञान–वृत्ति को चाहे उसके अपने आप में होने का बोध कितना ही वृत्ति–के–स्वरूप –में–ही–निहित और अनिराकरणीय लगे, पर निदान को यह विषयी की ही एक अपेक्षा–या उत्प्रेक्षा–ठहरती दीखती है। हाँ, हम विषय के भीतर ही विषय और वस्तु का भेद–विवेक भी करते हैं, वस्तु को विषयी–निरपेक्ष मानते–कहते हैं – प्रमाण–व्यापार का काम यही विवेक करना है। पर यहाँ कहा जा सकता है कि यह जो भेद किया जाता है, वह हम अपने जीवन और व्यवहार के प्रयोजन से – या किसी और प्रयोजन से, जैसे विचार के प्रयोजन से – करते हैं। इससे विषय और वस्तु में कोई असत् (आभास, कल्पना) और सत् जैसा वास्तव भेद नहीं खड़ा हो जाता। तो, हम युक्त दावे के साथ कह सकते हैं कि भेद प्रयोजन–सापेक्ष है, तत्त्वतः तो विषय मात्र आभास ही है। स्पष्ट ही, इस दृष्टि में व्यवहार – और विचार को भी व्यवहार का अंग मानते हुए – उसे सत् के लिये प्रामाणिक नहीं माना गया है। उसे अधिक से अधिक एक उपाधि या संवृत सत्य के रूप में देखा गया है।

पर यहाँ संवृत असंवृत को –परम सत् या परमार्थ को – मान कर चलता है। यों इस दृष्टि में भी विषय और वस्तु के बीच विवेक निहित है। पर वस्तु तत्त्व तक पहुँचने की दिशा यहाँ विषय से हट कर विषयी की ओर है। विचार की दिशा यहाँ यह है कि निर्विषय ही स्वरूपेण सत् है। वही एकमात्र वस्तु है। विषय स्वरूपेण मिथ्या है, अवस्तु है। विषय प्रतीत होता है, पर वह कल्पना ही होता है, नहीं–होता–हुआ होता है, केवल आभास ही, जैसे स्वप्न। पर स्वप्न के विपरीत कह सकते हैं कि वह भासित ही नहीं होता, अपना एक स्वरूप, और अपनी स्वतंत्र योजना रखता भी प्रकट होता है। तो, उसे नितांत असत् या इन्द्रजाल सी कल्पना कहना युक्त नहीं। तभी उसे माया कहते हुए 'सदसद्–विलक्षण' भी कहा गया है। पर इस वैलक्षण्य में असत् की ही प्रधानता है, क्योंकि स्वप्न की तरह ही उसका बाध संभव है। स्वप्न जब तक दिखता है, 'होता' ही दिखता है, पर जाग्रत अवस्था में उसका बाध हो जाता है। यों ही विशुद्ध विषयी के 'स्व'–स्थ होने पर उसके लिये

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विषय का आभास सर्वथा बाधित हो जाता है। यों विषय का भासित होना, उसका किसी भी स्वतंत्र वस्तुगत अर्थ में 'होना' ही, अंततः भ्रांति या अज्ञान ही ठहरता है। इस अज्ञान का दूर हो जाना ही ज्ञान हो सकता है, जबकि विषय इन्द्रजाल की तरह मिट जाये और विषयी अपने उस विशुद्ध बोध–स्वरूप को 'पा' ले जिसमें कि वह नित्य, निर्बाध स्थित है। हमारी जिज्ञासा वस्तु को जानने की होती है, और वस्तु विशुद्ध विषयी ही है।

प्रश्न यहाँ यह उठता है कि ज्ञान की बात कैसे की जाये ? ज्ञान तो विषयी को विषय का होता है केवल विषयी ही हो तो ज्ञान की बात वैसी ही निरर्थक ठहरती है, जैसे केवल विषय के होने पर। ज्ञान और उसका संधान विषयी और विषय दोनों को ऊह्य रखता है। इनमें से एक को भी हटा दीजिये तो फिर ज्ञान की कोटि ही नहीं बनेगी। यह ठीक है कि ज्ञान में हम मिथ्या का निराकरण कर सत् की ओर बढ़ते हैं, पर विषय मात्र ही मिथ्या हो तो यह संधान भी मिथ्या ही हो होगा, ज्ञान की बात ही, उसकी कोटि ही, फिर मिथ्या होगी। केवल विषयी हो तो बात ज्ञान की कैसे होगी? ऐसे में ज्ञान का कोई अर्थ बनता नहीं दीखता। और फिर हमारी जिज्ञासा ही मानो एक अभिशाप जान पड़ती दिखती है, जिसका हासिल कुछ नहीं। लेकिन अपनी जिज्ञासा–वृत्ति में हम अपने को किसी दैवी शाप से ग्रस्त नहीं, उल्टे उन्मुक्त, स्वरूप–स्थित पाते हैं। विषय–निर्मुक्त विषयी को सत् या वस्तु मानने वाली दृष्टि भी वस्तु के संधान को सबसे बड़ा पुरूषार्थ मानती है, इस पुरूषार्थ को ही मनुष्य होने का सार मानती है, चाहे 'ज्ञान' उसके लिये निर्विषय ही हो। ज्ञान–पिपासा को हम जैसे समझें, इतना तो उभर ही आता है कि पिपासा हममें अगाध है, मनुष्य में जागती चेतना का ही गूढ़, स्वरूपनिष्ठ संधान है। ज्ञान चेतना सत् और असत् का, अवस्तु और वस्तु के विवेक का आधार निरंतर ढूँढती रहती है। इस विवेक की मांग हमारी निर्वैयक्तिक, वैश्वानर, सामान्य वीक्षक–चेतना के स्वभाव में निहित है। हाँ, हममें प्रश्न, संशय, भ्राति, इनकी भी जड़ें गहरी हैं – वीक्षक–चेतना के अगाध में ही निविष्ट हैं। पर ये जिज्ञासा के संधान–करते स्वभाव में ही ऊह्य हैं– ज्ञान–वृत्ति के ये अभिन्न अंग ज्ञान को एक संधान ही नहीं बनाते, संधये सत्य को भी ऊह्य रखते हैं। इन्हें ज्ञान के उस विषयित्व का अभिन्न अंग कहा जा सकता है, जिसके बिना यह वृत्ति ही नहीं बनती। तभी अज्ञान क्या, या अवस्तु क्या, यह भी ज्ञान और तत्–संधेय वस्तु की तरह ही चिरंतन

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रश्न रहता है। इसी गहरे अर्थ में ज्ञान के संधान को हमे वस्तुतंत्र समझना चाहिये। पर वस्तु क्या? यह प्रश्न भ्रांति को, और यों असत् और अवस्तु को भी उतने ही अगाध में रखता है जितने अगाध में हम वस्तु की खोज के लिये उतरते हैं।

संशय हमारे लिये सहज है, और यह सोचना कि विषयी के लिये विषय आभास मात्र के रूप में ही उभरता है, अभ्रांत सत् की खोज में यह दृष्टि अनायास उभरती है। पर यह भी देखिये कि विषयी को संशय की इस कोटि में नहीं रखा जा सकता (शंकर ने भी ऐसा कहा ही है)। विषयी जिज्ञासा–और यों संशय–के भीतर ही अपने होने को ऊह्य रहता है। हम अगर पूछें कि क्या विषयी भी निरा आभास मात्र है, भ्रांत है, तो उत्तर विषयी ही देगा! विषयी की प्रतीति को भ्रांत कहना विषयी के होने की भित्ति पर ही हो सकता है – भ्रांति विषयी को ही होती है। हम विषय का निषेध करते हैं तो भी विषय–का–निषेध करता विषयी ही आगे आता दीखता है। यों विषयी के होने पर संशय करना मूलभूत कठिनाई सामने लाता है। पर विषयी अगर अनिषेध्य है तो फिर उसे असंदिग्ध वस्तु कहना होगा, और तब उसीका ज्ञान यथार्थ ज्ञान कहलायेगा! ऊपर अभी हमने जिस विचार–दृष्टि को आगे रखा, उसके पीछे युक्ति की यह दिशा देखी जा सकती है।

पर यहाँ फिर एक विचित्र वैषम्य सामने आता है। हम पाते विषयी को भी विषय के रूप में ही हैं। यह सच है कि विषयी अनिषेध्य भाव से जानता अपने को ही है, पर वह अपने को भी जानता विषय–रूपेण ही है। हाँ, विषयी को ही वस्तु माननेवाली दृष्टि उसे ऐसे स्व–विषयत्व से भी अस्पृष्ट देखती है। बल्कि, कह सकते हैं कि विषय के निराकरण के पीछे मूल आग्रह विषय–रूपेण–भासित होते विषयी का निराकरण ही है – इस विषयी–विषय को यह दृष्टि विशेष रूप से असत् पाती है। यह विचित्र स्थिति है। पर हम पातें हैं कि यह विचित्र असत्–बोध हमारी प्रत्यङ्मुख आत्मचेतना की प्रवृत्ति में ही अंतर्निहित है। आत्मचेतना बनती ही तब है जब चेतना अपने से निवृत्त हो कर अपनी ओर प्रवृत्त होती है। पर वह अपनी ओर मुड़ती है तो अपने आत्मवीक्षण में अपने वीक्ष्य आत्म को – अपने सिद्ध प्रदत्त स्वरूप को ही – अपने वस्तुसत् से च्युत पाती है। तभी हममें श्रेयबोध उभर आता है। हम अपने को वह नहीं पाते जो हमें होना चाहिए, जो हम वास्तव में हैं। अपने को विषय–रूप में देखने के साथ ही अपने ही

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रति अवस्तु–बोध हम में घर करती है। यों निर्विषय विषयी ही सत् होता उभरता है, पर अगर विषयी को हम जानते ही विषय के रूप में हैं तो फिर वही उलझन जागती है कि फिर विषयी को जानने की और उसे अनिषेध्य कहने की बात कैसी ?

यहाँ यह सोचिये। इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि विषयी को हम जानते हैं– उसे ही निःसंदिग्धभाव से जानते हैं, चाहें इस 'जानने' में उसे विषय रूप में पाते हों। तो, इस जानने का मर्म, उसका स्वरूप क्या? यहाँ विषयी के जानने पर कुछ ध्यान दें। हम पाते हैं कि वीक्षण–करता विषयी अपने वीक्षण के भीतर ही अपना वीक्ष्य होता है – अपने से सर्वथा विच्छिन्न होकर अपने को नहीं देखता। यह ठीक है कि वीक्षक–चेतना को विषयी विषय के रूप में ही दृश्य होता है, पर विषयी का स्वचेतन आत्मविषयकरण उसके विषयित्व का लोप नहीं करता है। विषयी–रूप आत्म प्रत्यङ्मुख चेतना के लिये दृश्य–विषय होता हुआ भी अन्य विषयों से –इन्द्रिय और (व्यापाक अर्थ में) विचार विषयों से – भिन्न होता है। इसे हम विषयी के रूप में ही पाते हैं : अपने स्व या 'मैं' या आत्म के रूप में पाते हैं –यह आत्म सुख–दुख, राग–द्वेष, इच्छा–अभीप्सा–अन्वेषा, साधना–संधान (जैसे ज्ञान का ही संधान), विचार......, इनसे तदात्म होता है और इन्हीं में अपना विषयित्व पाता है। वह अपने को ही देखता हुआ अपने पीछे हटता जाता है, पर न उसके विषयीभाव का लोप होता है, न उसकी विषयोन्मुखता दूर होती है। उसकी पराक्–दृष्टि प्रत्यक्–दृष्टि के साथ युगनद्ध बनी रहती है। अध्यात्म की अवस्थाओं में यह आत्म अपनी सहज, पराक्–दृष्टि का सर्वथा निराकरण करता कहा गया है। आत्मचेतना की ऐसी विशुद्ध प्रत्यङ्मुखता से इनकार किया जा सकता है, किया ही गया है – पर यह न भूलना चाहिए कि अगर चेतना में प्रत्यङ्मुखता है, जो कि आत्मचेतन ज्ञान में प्रकट ही है, तो उस प्रत्यङ्मुखता की विशुद्ध चिद्–गत संभावानाओं से इनकार करना युक्त नहीं जान पड़ता। प्रश्न हो सकता है कि इन अवस्थाओं में भी क्या विषय–विषयी भाव का सर्वथा लोप होता है? पर अध्यात्म की अवस्थाओं को हम जैसे भी समझें, जिस विषयी को अनिषेध्य कहा गया है, जो संशय–करता विषयी है, वह विशुद्ध निर्विषय विषयी नहीं होता (संशय उसका विषय होता ही है), और वह प्रत्यङ्मुखता के अगले चरण में स्वयं विषय ही होता है। तभी हम उसके अनिषेध की बात कर पाते हैं। सच पूछें

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तो निषेध–करता, विचार–करता – विषयी, विषयी–विषय होता है और यह स्वभाव रखता हुआ ही वह आत्मचेतन विषयी होता है : वह अपने पर संशय करता हुआ भी विषय के रूप में, 'मैं संशय कर रहा हूँ' यह जानता रहता है। ज्ञान के विषयित्व में ही एक विचित्र गुण होता है : ज्ञान अपने विषयी–बोध के भीतर ही अपने को विषय–रूप में पाले रहता है। वह स्वरूप से ही अपना साक्षी, स्व–समीक्षक होता है। आत्म–बोध में जिस विषयी को हम विषय बनाते हैं उसे विषयी के रूप में ही विषय बनाते हैं। तभी उस विषयी के विषयित्व को और उसके दृश्य विषय को हम भिन्न कर पाते हैं– यह चेतना के प्रत्यङ्मुख होने का लक्षण है, ऐसा न हो तो विषय और विषयी का भेद ही नहीं कर पायेंगे। बल्कि, कह सकते हैं कि आत्मचेतना का अहं–रूपी विषयित्व एक युगनद्ध द्वित्व–निष्ठ युगल का रूप लेता है जहाँ वह अपने भीतर ही विषय–का–रूप–लेता–विषयी होता है। आत्मचेतना की प्रत्यङ्मुख गति के पहले ही चरण में विषयिता के ही भीतर आत्मभाव का यह युगनद्ध द्वंद्व उभर आता है : विषयिता अपने में रहती हुई ही दो–फाँक–या द्विधा–विभक्त–हो जाती है। वह अपने–को देखती हुई विषयिता हो जाती है। इसे उसका 'स्व'–प्रतिष्ठ रहते हुए स्व–विषय होना' कह सकते हैं। तभी यह विषयी अपने को अनिषेध्य कह सकता है। जिस विषयी को अनिषेध्य कहा जा सकता है – जो संशय–करता विषयी है, वह विशुद्ध निर्विषय नहीं होता, न हो सकता है। विषयित्व के भीतर ही उभरते अभेदमय (या भेदाभेदमय कहिये) परस्पर–युगनद्ध द्वंद्वनिष्ठ युगलभाव को हम अपनी वीक्षक–चेतना के विचार की प्रक्रिया में आत्मस्फुट पाते हैं– तभी इसके स्वरूप पर मनन और विमर्श कर पाते हैं। हम पाते हैं कि आत्मचेतन प्रत्यङ्मुख विषयी यों विषयी–विषय होता हुआ ही विषयी रहता है– और तभी अपनी संशय–करती सत्ता को देखता–जानता हुआ उसके होने पर संशय नहीं कर पाता। प्रत्यङ्मुखता के अगले चरणों में इस द्वैताविष्ट विषयी को अपने होने का बोध और दृढ़ ही होता चला जाता है।

यह द्वैतमय विषयी या अविभाज्य विषयी–विषय–युगल ऐसे विषयों का भी द्रष्टा होता है जिन्हें वह अगने विषयित्व से अलग पाता है। इन्द्रिय–विषय स्पष्ट ही ऐसे विषय हैं। पर इन्द्रिय हमारे विषयित्व का ही अंग होती है, और हमने देखा कि इन्द्रिय–विषय भी प्रकट विचार में ही होते हैं। हमारे विषयी के ये 'बाह्य' विषय इन्द्रिय–सीमित भी नहीं होते – विचार तो

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अपना–ही–विषय–होता हुआ विषय होता ही है, पर आत्मचेतना के साथ ही हम अन्य अनिन्द्रिय विषयों के भी दृष्टा–ज्ञाता हो जाते हैं : गणित, विज्ञान, धर्म इतिहास, दर्शन......। इन विषयों में हम इन्द्रिय–लोक की तरह ही एक स्वतंत्र योजना भी पाते हैं। इन्हें हम उसी तरह अपने विषयित्व से अलग, अपने से विभाज्य भी पाते हैं, जैसा इन्द्रिय विषयों को। पर, साथ ही विषयी के बिना हम इनके होने की कल्पना नहीं कर पाते। इन्हें हम अपने विषयी स्वरूप के भीतर नहीं रखते जैसे कि अपने राग–द्वेष, सुख–दुख, आशा–निराशा को रखते हैं। ये विचार–करते आत्मचेतन विषयी पर ही प्रकट होते हैं : इन्हें हम बुद्धि के विषय कह सकते हैं। अपनी–स्वतंत्र–योजना–रखते ये विषय, स्पष्ट ही, ज्ञान के भी विषय हैं। इनमें प्रमाण–बोध के साथ सत्–असत् या वस्तु–अवस्तु का विवेक अपेक्षित रहता है। पर ये विषय होने में ही आत्मचेतन विषयी को ऊह्य रखते हैं; पशु–चेतना के लिये इनकी सत्ता नहीं। हम कल्पना कर सकते हैं कि इन्द्रिय–विषय हमारी विचार–चेतना से स्वतंत्र हैं, पर विचार–चेतना, जो कि आत्मचेतना में अनुस्यूत है, उसके बिना हम बुद्धि के विषयों की कल्पना नहीं कर सकते। इन्द्रिय–लोक से अलग करते हुए इन विषयों को हम 'अर्थ–लोक' – या, इनके अनैक्य के कारण, 'अर्थ–लोकों' की अभिज्ञा दे सकते हैं। इन्हें अर्थ के लोक कहने का तात्पर्य यह भी है कि ये इन्द्रिय–लोक की तरह केवल सिद्ध–प्रदत्त ही नहीं होते, जिज्ञासा–सापेक्ष होते हैं, साध्य होते हैं। हम इनमें अपने को सृजन करता पाते हैं। इनके ज्ञान में सत् या वस्तु का संधान स्फुट ही अर्थ का संधान होता है। सत्य–संधानी कल्पना की मांग करता है। तभी इनके सत्य–संधान में सार्थक संभावनाओं का अनैक्य सहज है। यों, सच पूछिये तो इन्द्रिय के सत् का संधान भी अर्थ का ही संधान होता है – वह भी साध्य होता है, और कल्पना की मांग करता है। उसका फल भी हमारी जिज्ञासा का फल होता है। वहाँ हमारे प्रश्न होते हैं, इन्द्रिय–लोक क्या? इन्द्रिय प्रदत्त जगत् क्या?...... ये प्रश्न ज्ञान के लिये– या सत्य–संधानी कल्पना के लिये कहिये –वैसे ही सृजन की मांग करते हैं, जैसा कोई भी बुद्धि–विषय करता है, सार्थक संभावना का वैसा ही अनैक्य भी पालता है। ऐसे अनैक्य में दृष्टि–भेद को इन्द्रिय साक्ष्य की या किसी और प्रमाण की दुहाई देकर नहीं दूर किया जा सकता।

तभी एक गहरे अर्थ में अर्थ–लोक विषयी–सापेक्ष ही नहीं, विषयी के अर्थ–बोध पर निर्भर है। हमने कहा कि अर्थ–लोकों में भी हम संधान सत् का ही करते हैं। ये अपने आप में स्वतंत्र लोक होते हैं, और इनकी अपनी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

योजना होती है। हमारी वीक्षक'—चेतना इस योजना में प्रवेश कर इनके नियम भी उभारती है, जैसे इन्द्रिय—लोक के नियम उभारती है। पर नियम यहाँ पारदर्शी होते हैं — विषयी का अर्थ—चेतना (चित्) के भीतर से ही उभरते अनुभूत होते हैं। तभी इन लोकों के अर्थ के साक्षात्कार और उसकी अभिव्यक्ति के लिये नियम का उल्लंघन कर उससे ऊपर उठा जा सकता है : ऐसा हम भाषा के नियम तोड़ते हुए कविता में ही नहीं करते, युक्ति—विचार में भी करते हैं (तभी सदसद्—विलक्षण की बात हो सकती है)। गणित में भी करते हैं (नहीं तो शून्य या अनंत संख्यायें नहीं हो सकतीं, और/1—, इस संख्या को देखिये)। अर्थ के सभी क्षेत्रों में ऐसा करते हैं। यहाँ अर्थ—संधानी वीक्षक चेतना में यह तत्त्व उजागर रहता है कि संधान का क्षेत्र उसके अर्थ का क्षेत्र है और वह अर्थ विषयी—चेतना में ही निगूढ़ बसता है; वही नियम का रूप लेती है, ताकि अर्थ को एक स्वतंत्र योजना का रूप दे सके, उसे सत्य—संधान का क्षेत्र बना सके। ये क्षेत्र अपने संधान में विचार को ऊह्य रखते हैं। विचार में यह चेतना को अपने ही भीतर अपने अर्थोद्‌गम के स्रोत की ओर मुड़ता—बढ़ता देख सकते हैं। विचार के आत्मसमीक्षण की प्रक्रिया को देखिये— प्रक्रिया विवेक की — प्रमाण—बोध की मांग करती है, 'युक्त' होना चाहती है, और इस यात्रा में विचार अपने भीतर, अपनी युक्तियों को, अपनी दृष्टियों को पीछे छोड़ता उतरता चला जा सकता है। यह चेतना के स्वरूप (चित्) से उभरता दिखता है, हालांकि इस अपने—को—देखते—छोड़ते—हुए अपने पीछे हटने का गोमुख स्रोत हमसे ओझल ही रहता है, क्योंकि इस प्रत्यङ्मुख व्यापार का कहीं अंत नहीं होता। फिर भी यह व्यापार अपने से परे किसी अनिर्देश्य, अनिर्धाय में भित्ति रखता दीखता है। विचार—करती विषयी—चेतना के भीतर ही, परन्तु उसके परे उसके निगूढ़ गोमुख का हम इंगित पाते हैं। यह भी इंगित पाते हैं कि अर्थ का—सत् का— और अर्थ—संधान का आधार वही है। यहाँ हमारा विषयित्व अपने विषयी—स्वरूप को इन्द्रिय और बुद्धि दोनों के विषयों से अलग, उनका विषयी ही नहीं पाता, उन विषयों में अपने ही अर्थ की अभिव्यक्ति पाता है, और उस अर्थ का संधानी भी होता है। विचार की अपने पर विचार करती प्रत्यङ्मुख प्रक्रिया में यह तब और प्रकट देखा जा सकता है, जब विचार अपने विषयों से हटकर अपने ही स्वरूप पर मनन करता है। विचार की प्रत्यङ्मुख यात्रा जितनी अपनी पीछे हटती है, अपने को अपने परे किसी अगाध के प्रति बढ़ता ही

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नहीं पाती, वहीं से उभरता पाती है – सृजन की प्रक्रिया की तरह किसी अतल अरूप से उनकी निःसृति का बोध होता है। विचार अपनी प्रत्यङ्मुखता के पारदर्शी अनुभव के साथ विषयित्व–बोध के अतल 'भीतर' से उद्भिन्न होता दीखता है।

श्रेय और सौंदर्य या संवेदना के –कर्म और भाव के –लोक तो स्पष्ट ही विषय–चेतना को आधार और प्रमाण बनाते दिखते हैं। तभी विचारक इनकी वस्तुतंत्रता से ही इनकार करते दिखते हैं। इनकार का एक कारण यह भी है कि यहाँ अर्थ का अनैक्य इन संधानों में अंतर्निविष्ट ही दीखता है। पर इनके अर्थ भी चेतना–सामान्य–संबंद्ध होते हैं – बल्कि इन अर्थों का चिद्–गत अर्थ होना भी स्फुट रहता है। इनके अर्थ–संधान में भी हम विषयिता के दूषणों से –राग–द्वेष, स्वरूचि–मात्रता आदि से – अछूता रहना चाहते हैं, और यहाँ यह काम अधिक कठिन और अधिक भ्रांति–ग्रस्त होने की संभावना रखता भी दिख सकता है। पर यहाँ विषयी–चेतना की – या आत्म की कहिये – अपनी स्वतो–प्रामाणिकता भी अधिक स्पष्ट दिखाई देती है (जैसे, मैं –आत्म – कुछ रचता हूँ तो मैं ही उसमें दोष पाता हूँ, और मैं ही उसके सुधार में प्रवृत्त होता हूँ)। विषयी से इस घनिष्ठ, स्वरूप–निष्ठ संबंध के कारण ही इन क्षेत्रों को हम ज्ञान के क्षेत्र नहीं कहते – यहाँ विषयी विषय के सत्–या अर्थ को नहीं, अपने ही सत् को साधता दिखता है। पर विषयी के स्व–विषय–करण के साथ इन्हें विषय भी बनाया जा ही सकता है, और हम ऐसा करते भी हैं, और तब इनके ज्ञान की बात नहीं करते, इनको उद्दिष्ट रख कर इनके ज्ञान–तंत्र भी निर्मित करते हैं– जैसे मनोविज्ञान में, या जिसे ज्ञान का मानविकी–क्षेत्र कहते हैं, वह भी ज्ञान ऐसा ही विषय होती है।

पर यहाँ ज्ञान की एक और अर्थ में भी बात की जा सकती है, जहाँ विषयित्व के भीतर ही एक विलक्षण आत्म–वीक्षक–भाव बनता देखा जा सकता है। कला, संगीत, साहित्य ...., इनकी अभिव्यक्तियों को लीजिये। ये माध्यम भी सामान्य सार्वजनिक चेतना के आत्मप्रकाश के माध्यम होते हैं। इनमें विषयित्व की सामान्यता स्फुट होती है। तभी ये माध्यम भाषा जैसी प्रतीक–व्यवस्था का रूप लेते हैं। इनका आधार होता है – वर्ण–रेखा, स्वर–ताल, आदि। साहित्य में तो माध्यम भी भाषा ही होती है। पर कला, संगीत, साहित्य की अभिव्यक्तियों में विषयी से स्वतंत्र किसी विषय के होने का अध्यवसाय नहीं होता। तभी यहाँ अभिधा की जगह व्यंजना की बात सार्थक है। व्यंजना में विषयी अपने अर्थ को अपने ही भीतर रहता हुआ,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अपने ही भीतर बनते ताटस्थ्य में ग्रहण करता है (यही यहाँ उसका वीक्षकत्व है)। सत् या वस्तु का साक्षात्कार यहाँ भी होता है, और उसके प्रामाण्य की भी आकांक्षा और संधान रहता है (तभी स्वदोष–दर्शन और कला–समीक्षा संभव होती है)। पर प्रमाण्य का स्रोत भी स्पष्ट ही विषयी के भीतर ही रहता है। इन बातों को ध्यान में रखते हुए यहाँ भी ज्ञान की बात की जा सकती है।

पर विषय मात्र को मिथ्या ठहराने वाले जब विशुद्ध विषयी की बात करते हैं, तो वे विषय को ही नहीं, विषयी–विषय युगल, उसके अर्थ, उसके अर्थ–संधान को भी मिथ्या ठहराते हैं। वे विषय–बोध मात्र में अर्थ के स्थान पर निरर्थकता के प्रपंच का उद्गम देखते हैं – या यों कहिये कि विषयी की अपने परे उन्मुखता में ही असत् का बीज देखते हैं। इस बीज से निर्मित प्रपंच के मिट जाने को ही वे ज्ञान कहते हैं। तभी विशुद्ध निर्विषय विषयी ही असंदिग्ध वस्तु ठहरता है। यहाँ यह प्रश्न रह जाता है कि विशुद्ध विषयी को एक मात्र वस्तु कह भी लें तो उसके ज्ञान की बात कैसे करें ? उसका ज्ञान किसे होता है ? तभी ऐसे ज्ञान को, जिसे अध्यात्म ज्ञान कहा जा सकता है, ज्ञान की अलग कोटि में रखा गया है। स्पष्ट ही, अगर 'ज्ञान' शब्द का ही प्रयोग करना चाहें तो ऐसा करना ही होगा। ज्ञान अगर निर्विषय विषयी का है तो उस विशुद्ध ज्ञाता का है जिसका श्रेय कुछ नहीं। तभी अध्यात्म में जानने को एक विशेष प्रकार के जानने का अर्थ देते हुए, इस प्रसंग में अवगति, बोधि, उपलब्धि जैसे पदावली प्रयुक्त होती देखी जाती है। इसे हो कर पाना या जानना भी कहा जाता है। पर शब्द प्रयोग कुछ भी हो, तात्पर्य में फिर भी ज्ञान का अर्थ बना रहता है, क्योंकि बोध का यहाँ वस्तु से संबंध है।

ज्ञान की यहाँ बात फिर भी अटपटी ही लगती है। 'ज्ञान' की बात यहाँ सार्थक तभी हो सकती है जब विषयी–विषय युगल किसी अर्थ में बना रहे। इंगित फिर विशुद्ध विषय की–कोटि–से–अछूते विषयी की ओर न हो कर ऐसी अद्वय वस्तु की ओर दीखता है जो एक साथ विषय और विषयी है। 'हो कर जानने' में भी यह ध्वनि है। हाँ, शायद यह कह सकते हैं कि यहाँ इन्द्रिय या विचार के अन्य विषयों से रीते, उनके परे जागते विषयित्व के अंतर्गत ही भेदाभेद भाव के साथ उभरते विषयी–विषय द्वंद्व के सिवा और कुछ नहीं होता। तभी ज्ञान की बात सार्थक होती दिख सकती है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनुभव के जिस क्षेत्र को हमने 'अध्यात्म' का नाम दिया और वहाँ ज्ञान की बात की, उसे और तरह से भी समझा गया है। उसे विषय ही नहीं विषयी की भी गंध या छाया से सर्वथा अस्पृष्ट देखा गया है। विषयी–विषय भाव के ही नहीं, वस्तु–अवस्तु की कोटि के भी बाहर रखा गया है कोटि–मात्र–विनिर्मुक्त कहा गया है। ऐसे में ज्ञान की भी बात का अर्थ नहीं। दिङ्नाग ने निर्वाण की अवस्था को विषय से ही नहीं, विषयी से भी अलग रखते हुए उसे ग्राह्य–ग्राहक भाव से बाहर 'बुद्धानां विषयः' कहा है। इस कथन में विषय शब्द का प्रयोग स्थिति को ज्ञान के रूप में व्यंजित करता दिख सकता है, पर यह कहने की बाध्यता है, दिङ्नाग का आशय स्पष्ट ही बुद्ध–चेतना को किसी भी कोटि से बाहर ठहराना है – उसे न ज्ञान कह सकते हैं, और न वस्तु। तात्पर्य यहाँ अद्वैत की दृष्टि से भिन्न है जो विशुद्ध विषयी या आत्म को वस्तु कहती है। तभी उसके ज्ञान की बात उठ भी सकती है। पर बुद्धों के बोध को किसी अर्थ में ज्ञान नहीं कह सकते, उसके बारे में कुछ कहने का ही कोई अर्थ नहीं बनता – वह अचिन्त्य ही नहीं अतल रहस्यमय है। अद्वैत भी विशुद्ध विषयी के ज्ञान को अचिन्त्य ही कहता है, पर वह इस विषयी को विशुद्ध चित् मानता हुआ वस्तु भी कहता है – बल्कि उसीको वस्तु कहता है। इसके विपरीत, 'बुद्धानां विषयः' को वस्तु की संज्ञा नहीं दी जा सकती। उसके लिये ज्ञान जैसा शब्द अनर्थक ठहरता है।

पर एक बात यहाँ मननीय है। अध्यात्म ज्ञान ही नहीं, साधना है। इसे आत्म में स्थित हो जाने की साधना कह कह सकते हैं, उस आत्म में जो आत्म ज्ञान–स्वरूप भी है। बौद्धों को यह पदावली भ्रांत लगेगी क्योंकि आत्म की वहाँ बात नहीं हो सकती। पर अध्यात्म–साधना की बात बौद्ध भी करते हैं, और उसके लिये 'प्रज्ञा' को भी अनिवार्य मानते हैं – और कहना न होगा कि 'प्रज्ञा' में 'ज्ञान' का अर्थ समाविष्ट है। प्रज्ञा साधना का बीज और उसकी मार्ग–दर्शक होती है। अब, जब इस साधना में भी निर्वाण तक पहुँचने के लिये मार्ग और उसके ज्ञान की आवश्यकता है तो उसके लिये विषयी के भीतर ही सदुन्मुख और अनुन्मुख तत्त्वों में प्रमाण–गर्भ 'विवेक' की भी आवश्यकता है। इंगित ज्ञान की कोटि की ओर ही है।

तभी आत्मानं विद्धि, इस वाक्य का अर्थ बनता है। पर, 'मैं वास्तव में कौन हूँ' यह संधान मानव चेतना के सभी स्तरों पर जागता है। जो मैं हूँ वह मैं वास्तव में नहीं हूँ, इस बोध के साथ जागता है। आत्मचेतना के साथ उभरते आत्म–द्वंद्व के साथ ही यह उठ खड़ा होता है। यह श्रेय–बोध का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बीज है और उस चेतना (या चित्) में स्वभाव–निष्ठ जान पड़ता है जो आत्मचेतना में रूप लेती है। मनुष्य व्यक्ति ही नहीं मानव–समाज भी अपने को वह नहीं पाता जो उसे होना चाहिये (जो वह वास्तव में है)। तभी मनुष्य का व्यवहार भी सिद्ध नहीं, साध्य रहता है – आदर्श पालता है, सच्चे आदर्श की खोज में रहता है। यह प्रज्ञा, और यों ज्ञान का ही विषय है। श्रेय–बोध के साथ ही हममें यह अनुभव जागता है कि 'मैं हूँ पर अपने वस्तु–स्वरूप में नहीं हूँ', या दूसरे शब्दों में, मैं हूँ पर अवस्तु हूँ। मेरा अपने होने का सत्य मेरे लिये एक संधान बन जाता है, जिसे प्रज्ञा का संधान कह सकते हैं। अध्यात्म–साधना को इसी संधान का आत्यंतिक विशुद्धतम, प्रखरतम रूप कहा जा सकता है।

पर इस बात की बेढब विचित्रता पर भी ध्यान दीजिये। मैं अपने होने की वास्तवता पर संशय न कर पाता हुआ भी अपने को अवस्तु पाता हूँ ! यह सत्–होते–हुए–भी असत् होने की स्थिति उस सदसत्–विलक्षणता से भिन्न है जो विषय मात्र को आभास पाती है। मैं अपने भीतर के अनात्म को आभास मात्र नहीं पाता हूँ, उसके होने को ही न–होना–चाहिये से विद्ध पाता हूँ। यह रज्जु में सर्प देखने जैसी भ्रांति नहीं है। यह चेतना के रूपांतरण की एषणा है, स्वोत्तरण की चाह है। प्रज्ञा इसी एषणा को रूप देती है (चाहे किसी भी ज्ञान की तरह, उसमें भ्रांति का बीज बना रहता हो); यह हममें श्रेय–बोध के साथ जागती है। पर इस श्रेय के लिये विषय को होने–न–होने के अर्थ में सत्य या मिथ्या ठहराना उतना अभिप्रेत नहीं होता, जितना ऊर्ध्वतर सत् की संभावना देखना। एषणा की ऐसी ललक चेतना के स्वरूप में ही देखी जा सकती है : तभी हम भूत मात्र से प्राण, फिर जीव, फिर पशु और फिर मनुष्य, इनमें चेतना के विकास का सोपान पाते हैं। मनुष्य में आकार तो चेतना एक नई उत्क्रांति के साथ एक नई आत्मचेतन यात्रा का रूप लेती दिखती है। अपने ही सत् की खोज का बीज यही है – जो प्रकट रूप से आत्मसंधान और साधना का रूप लेता है। वह दृष्टि जो विषय मात्र को मिथ्या देखती है, उसके लिये चेतना की सारी श्रेय–साधना भी विषय मात्र ही ठहरती है – चाहे वह दृष्टि भी सत् तक पहुँचने के लिये साधना को आवश्यक मानती हो। उसके लिये तत्त्वतः यह सब मिथ्या ही है – क्योंकि सत् की स्थिति में सर्वथा बाधित हो जाता है। इस बोध के पीछे प्रेरणा–बोध की है, पर श्रेय–बोध से यह उत्पन्न या निःसृत नहीं होता कि विषय मात्र मिथ्या है। यह इस बोध भी विषय और वस्तु में भेद करता है और दोनों

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के बीच प्रमाण के आधार पर विवेक की मांग करता है। इसे भी ज्ञान ही कहना चाहिये – हालांकि इसे ज्ञान की कोटि में रखने से विचारक कतराते हैं। ज्ञान का संबंध 'है' से रखा जाता है और श्रेयबोध का 'होना चाहिये' से : 'ज्ञान' को यों देखने वालों के लिये क्या है से क्या होना चाहिये का कोई संबंध नहीं उभरता। फिर, एक और पैनी आपत्ति यह आगे आती है कि जहाँ विषय और वस्तु में विवेक आत्म–अनात्म विवेक होता है, वहाँ प्रमाण भी आत्म ही होता है। ऐसे विवेक में भ्रांति या मनमानी सहज है। एक आपत्ति और है : यहाँ ज्ञान केवल जानने की ही बात नहीं होती, ज्ञान के साथ ही यहाँ होने की – या हो कर जानने की, कहिये – बात निविष्ट रहती है, क्योंकि संधान ही यहाँ अनात्म से हट कर आत्म में स्थित होना है। यहाँ विषय–बोध विषयी के आत्मज्ञान के साथ आत्मप्राप्ति से स्वरूपेण युगनद्ध रहता है – तभी जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति : जैसी उक्ति कचोट जाती है। पर इस उक्ति से यह भी उभरता है कि श्रेयबोध में ज्ञानवृत्ति से इनकार युक्त नहीं : ज्ञान–वृत्ति हमारी सब वृत्तियों पर व्याप्त होती है, वह प्रमाण संधानी वृत्ति है, हमारे सभी संधानों के मर्म में रहती है। 'श्रेय क्या है' यह ज्ञान का प्रश्न है – अगर हम ज्ञान को परिभाषया ही इन्द्रिय–जगत् तक सीमित न कर दें, जैसा कि आम तौर पर विचारकों की वृत्ति देखी जाती है।

हमने अभी कहा कि श्रेयबोध के लिये आत्म ही प्रमाण होता है, और वह अपने ही भीतर आत्म–अनात्म विवेक करता है। कहना न होगा यह आत्म व्यक्ति–आत्म नहीं है (हमने मानव–व्यवहार को ही साध्य देखा–कहा)। श्रेयबोध में जिस आत्म की बात होती है वह चेतना की उसी सामान्यता में बसता है जिसमें ज्ञान की प्रत्यङ्मुख वृत्ति घर करती है, तभी यहाँ ज्ञान, प्रमाण और वस्तु–अवस्तु की बात की जा सकती है। हम कह चुके हैं कि आत्मचेतना के साथ चेतना में आत्मवीक्षण की जो वृत्ति उभरती है, वह अपने आत्मवीक्षण के भीतर ही अपने को अपने से न्यून पाती है, और यही श्रेयबोध का बीज है। अपने आप को ही अपना विषय बना लेती चेतना ऐन्द्रिक जिजीविषा मात्र के प्रयोजन से – उपादेयता मात्र के व्यवहार से–हट कर अपने अर्थ का संधान करती है। ज्ञान–या प्रज्ञा कहिये–वह भी ऐसा ही संधान है। हमने यह भी कहा कि पशुचेतना में भी ज्ञान की बात की जा सकती है : पशुचेतना एक जगत् योजना में रहती हुई तद्गत वस्तुओं और उनके संबंधों को अपनी जिजीविषा की प्रवृत्ति के भीतर से ही जानती रहती है। यह ज्ञान इन्द्रिय–बोध तक सीमित भी नहीं होता। हजारों मील की सही

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दिशा–ज्ञान के साथ प्रवास–यात्रा कर पाना प्रत्यक्ष और तदाधारित अनुमान का फल नहीं हो सकता। यह जिजीविषा में सन्निष्ठ कोई प्रज्ञा ही कहला सकती है। मनुष्य भी ऐसी यात्रा कर सकता है, पर उसके लिये उसे एक समूचे ज्ञान–तंत्र का सहारा लेना पड़ता है, जिसके लिये उसकी प्रत्यङ्मुख वीक्षण–वृत्ति उसे समर्थ बनाती है। पशु का उद्‌भुत ज्ञान उस चेतना का ही बोध कहला सकता है जो पशु के विषयी और विषय दोनों में युगनद्ध व्यापृत होती है। ज्ञान यहाँ परतंत्र पशु से ऊर्ध्व, पशु को प्रदत्त योजना के अधीन रहता है। जिस चेतना में यह योजना घर करती है, वह चेतना नितांत पराङ्मुख परिलक्षित होती है। यहाँ आत्म समीक्षक जिज्ञासा की : ज्ञान के स्वतंत्र प्रमाण–और–सत् के संधान की बात नहीं की जा सकती, जो संधान मनुष्य में आत्मचेतना के साथ उभरता है। पर साथ ही, ज्ञान अब जिजीविषा के हानोपादान की सीमा से उठ कर अर्थ का संधान हो जाता है : विषयी–चेतना अब विषय से तटस्थ होकर प्रश्न करती है : क्या है ? यह प्रश्न विषय के होने मात्र का प्रश्न नहीं है, होने के अर्थ का प्रश्न है। आत्मचेतन जिज्ञासा के लिये होने का प्रश्न होने के तत्त्व का प्रश्न होता है, जो जिज्ञासा के लिये होने का निगूढ़ अर्थ है। पशु के लिये भी होने का अर्थ से अविनाभाव होता है – वस्तु उसके 'प्रयोजन की वस्तु' होती है। वस्तु का अपने आप में होना – उसका याथातथ्य, उसका तत्त्व–पशु के लिये अर्थ नहीं रखता। पर हमारी जिजीविषा–मात्र–की परतंत्रता से ऊपर उठी स्वतंत्र जिज्ञासा के लिये 'क्या है' यह एक ऐसा प्रश्न हो जाता है जो जीने भर के प्रयोजन से निकल कर अपने आप में सत् के रूप में जिज्ञास्य हो जाता है। पर इससे अर्थ का आयाम ही व्यापक होता है, सत् के लिये अर्थ की कोटि निरर्थक नहीं हो जाती। तभी हमारे लिये 'क्या है' का प्रश्न जगत् क्या है ?, मैं क्या हूँ?, हम क्या हैं ? जगत् से हमारा संबंध क्या है ...... ऐसे प्रश्नों में स्वतः परिणत होता है। हम ज्ञान के सिद्धान्त–तंत्र बनाते हैं। ये अपने स्वरूप में ही होने के अर्थ की जिज्ञासा के प्रश्न होते हैं। तभी इनमें संभावना का अनैक्य – या दृष्टि भेद कहिये – स्वरूप निष्ठ ही दिखता है। हमारी अर्थ चेतना ही संभावनामयी होती है : सृजन–कल्पना में बसती है। पर इस बोध के साथ एक प्रतीप–सा–लग–सकता बोध भी रहता है : निर्दोष सत् को पा लेने के आदर्श का बोध। तभी ज्ञान एक संधान होता है। प्रश्न, संशय, भ्रांति, इस संधान के अंग होते हैं – ये संधान यात्रा के निरंतर संग चलते हैं। तभी आदर्श आदर्श ही रहता है। सार्थक संभावनाओं के लिये खुला रहता है। पर यह सृजन–कल्पना का स्वभाव ही है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पर ज्ञान–प्राप्य अर्थ की सार्थक संभावनाओं के अनैक्य की बात की जाये तो प्रश्न स्वाभाविक है कि क्या भ्रांति दूर होने पर किसी एक–अद्वय सत्य का साक्षात् नहीं होता ? सत् के अद्वय होने का बोध हममें सहज है, ज्ञान की धारणा में ही गहरे निविष्ट है। यह ठीक है। पर ऐसी समझ में सत् की जो छवि हम मन में रखते हैं, वह बड़ी स्थूल, बड़े निर्विचार–भाव से इन्द्रिय निष्ठ होती है : 'सामने मेज पर किताब पड़ी है'। पर, सोचिये, एक तो मेज इन्द्रिय–दृष्ट होती हुई भी कल्पना–सृजित होती हैं, और मेज–कल्पना में संभावना का अनैक्य स्फुट ही रहता है। अनैक्य ही नहीं, हमारी किसी भी निर्मित–कल्पना के मूल में बसता तत्–वस्तु का आदर्श भी स्फुट रहता है – मेज के 'है', के साथ उसका 'होना चाहिये' उसके 'होने' में ही निविष्ट रहता है। पर चलिये मेज को मरूथल में पड़ी धूल के कण या पत्थर के ढोके की तरह स्वतो–पदत्त हमारी निर्मिति से ही नहीं, हमारी चेतना से ही सर्वथा स्वतंत्र–कुछ मान भी लें तो भी 'किताब'? सोचिये, 'किताब' क्या? हम सीधे किसी भी इन्द्रिय–प्रत्यक्ष द्वारा समाधेय अद्वय उत्तर से दूर निकल जायेंगे : किताब का तत् तो इन्द्रिय–गम्य होता ही नहीं। किताब तो होती ही कल्पना–सृष्ट है : आदर्श–पालती सृजन–कल्पना का एक परिणाम। तभी वह तत् जो किताब बनाता है, वह मेज पर पड़ा ही नहीं रह सकता – वह उस किताब की ही अन्य प्रतियों में जो कहीं भी पड़ी हो, वहीं रहता है– और उसमें आदर्श और संभावना के प्रत्यय स्फुट रहते हैं– तभी किताब की समीक्षा हो सकती है। किताब ऐसी समझ की मांग करती है, जो किसी सीधे से 'ऐक्य' में समाती नहीं दिखती, हालांकि ऐसी समझ में सत्–असत् की, प्रामाणिक–अप्रामाणिक की बात भी अर्थवत् होती है। हमें समझ से ऐसे 'साक्षित्व' की अपेक्षा रहती है कि जिसमें साक्ष्य साक्षी के राग–द्वेष, आवेग, मद, मोह, आग्रह स्वार्थ...ये पुस्तक–ज्ञान को भ्रांत न करते हों। पर साक्षित्व के निष्पक्ष उत्तरों में भी अनैक्य तो होगा ही, विशेषकर अगर किताब सचमुच पते की हो–जैसे गीता।

ए 37/38, विश्वामित्र मार्ग
श्याम नगर, अजमेर रोड,
जयपुर–302006

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रमाण अपरोक्षतावाद : अपरोक्ष फलोपधायी परोक्ष-प्रमाण

अम्बिकादत्त शर्मा

साधारणतया भारतीय दर्शन में ज्ञान के साधनभूत प्रमाणों को प्रत्यक्ष और परोक्ष कोटि में विभाजित किया जाता है। परोक्षता एवं अपरोक्षता का यह विभाग विषयमूलक होता है, ज्ञानमूलक नहीं; क्योंकि ज्ञान स्वभावतः परोक्ष नहीं हुआ करता। उसमें परोक्षापरोक्ष का व्यवहार विषय को लेकर किया जाता है। अब कुछ ऐसे प्रमाण हैं जो स्वरूपतः अपरोक्ष–ग्रहण–योग्य विषय के लिए ही प्रयुक्त होते हैं और कुछ प्रमाण स्वरूपतः परोक्षतया–ग्रहण–योग्य विषयों के लिए ही उपलब्ध होते हैं। इसीलिए इन्द्रियादि साधनों से विषय की साक्षात् उपलब्धि को प्रत्यक्ष कोटि में और अनुमानादि शेष साधनों से प्राप्त उपलब्धि को परोक्ष कोटि में रखा जाता है। दूसरे शब्दों में कहें तो विषय की साक्षात् उपलब्धि तब होती है जब उस उपलब्धि का कारण (असाधारण कारण) कोई पूर्ववर्ती ज्ञान ही नहीं होता (ज्ञान अकरणक) जबकि परोक्ष उपलब्धि में सदैव कोई ज्ञान ही असाधारण कारण की भूमिका में रहता है (ज्ञान करणक)। परन्तु अद्वैतवेदान्त का 'शब्दापरोक्षतावाद', जो अत्यंत ही प्रसिद्ध है, इस सर्वसाधारण धारणा का अर्थात् प्रमाणों के उपर्युक्त प्रत्यक्ष तथा परोक्ष विभाजन का अपवाद प्रस्तुत करता है। द्रष्टव्य है कि शब्द प्रमाण 'ज्ञान' का एक परोक्ष साधन है लेकिन अद्वैतवेदान्ती इसे सन्दर्भ विशेष में अपरोक्ष ज्ञान का उत्पादक मानते हैं। प्रश्न उठता है कि परोक्ष ज्ञान के अन्य साधनभूत प्रमाण भी क्या सन्दर्भ विशेष में अपरोक्ष प्रमिति का उत्पादक हो सकते हैं?

प्रस्तुत आलेख में हम 'अपरोक्ष फलोपधायी परोक्ष प्रमाण' जैसी पदावली का प्रयोग इसी आशय–विशेष के संदर्भ में कर रहे हैं। इसे पुष्ट करने के लिए यहाँ हम अद्वैतवेदान्त के 'शब्दापरोक्षतावाद' को आधार बनाकर अन्य प्रमाण–सम्बद्ध इसके विस्तार की सम्भावना को तलाशते हुए यह दिखाने का प्रयास करेंगे कि शब्द प्रमाण और उसके अतिरिक्त, कम से कम,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उपमान और अनुमान जैसे परोक्ष प्रमाण भी कैसे और किन परिस्थितियों में अपरोक्ष फलोपधायी हो सकते हैं। इस प्रयोगधर्मी विमर्श को भारतीय प्रमाण मीमांसा के क्षेत्र में एक सर्वथा नवीन प्रकरण 'प्रमाण अपरोक्षतावाद' से भी अभिहित किया जा सकता है।

I

अद्वैत वेदान्त में शब्दापरोक्षतावाद[1] का स्थूल रूप में मंतव्य यह है कि शब्द साधारणतया परोक्ष ज्ञान के ही साधन हुआ करते हैं लेकिन शब्दों का विशेष परिस्थिति में विशेष प्रकार से प्रयोग किये जाने पर उनके द्वारा साक्षात्कार सदृश अपरोक्ष प्रमिति श्रोता में उत्पन्न की जा सकती है। शब्द की ऐसी अनोखी ज्ञानमीमांसीय भूमिका को स्पष्ट करने के लिए एक काल्पनिक उदाहरण अद्वैतवेदान्त के ग्रन्थों में प्रायशः ही दिया जाता है। उदाहरण इस प्रकार का है।[2] एक गाँव के निवासी दस मूर्ख उस गाँव की नदी के पारवाले दूसरे गाँव की ओर जाने के लिए निकल पड़े। वे सभी अच्छे तैराक नहीं थे, फिर भी नदी में कम पानी होने के कारण वे साहस करके किसी तरह तैरकर नदी के दूसरे तीर पर पहुँच गये। वहाँ पहुँचते ही उन सबके मन में संदेह उत्पन्न हो गया कि शायद उनमें से कोई नदी में डूब तो नहीं गया। इस संदेह के निवारणार्थ उनमें से प्रत्येक व्यक्ति सबको गिनने लगा, परन्तु हर कोई अपने को छोड़कर शेष व्यक्तियों को ही गिनता। इस तरह प्रत्येक व्यक्ति की गणना नौ संख्या तक ही पहुँचती, जो कि स्वाभाविक ही था। इस तरह सभी अत्यन्त दुखी हो गये कि उनका कोई एक साथी अवश्य ही नदी में डूब गया। अब एक राह चलते मुसाफिर ने उनकी कातर दशा पर तरस खा कर उन्हें आश्वस्त किया कि यदि वे उसकी बात मान लें तो वह उनके दसवें व्यक्ति को नदी में डूबने से बचा लेगा। उस राहगीर ने उन मूर्खों को एक कतार में खड़ा कर कहा कि जैसे–जैसे वह एक–एक व्यक्ति के पास जायेगा वैसे–वैसे प्रत्येक व्यक्ति अपनी संख्या को जोड़ते हुए उद्घोष करेगा। इस प्रक्रिया में जब वह कतार के अन्तिम व्यक्ति के पास पहुँचा तो उस व्यक्ति ने दस संख्या का उद्घोष किया। इस उद्घोष के होते ही राहगीर ने उस व्यक्ति के पीठ को थपथपाते हुए कहा कि दसवें व्यक्ति तुम हो (दशमस्त्वमसि)। इस तरह राहगीर के इस कथन को सुनते ही एक व्यक्ति को दसवें व्यक्ति के रूप में स्वयं की अपरोक्षानुभूति हुई और शेष सभी मूर्ख आश्वस्त हो गये कि उनमें से कोई भी व्यक्ति नदी में डूबा नहीं है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उपर्युक्त कल्पित उदाहरण से यह निरूपित करना अद्वैतवेदान्त को अभिप्रेत रहा है कि शब्द परोक्ष कोटि का प्रमाण होते हुए भी विशेष रूप से प्रयुक्त होने कर साक्षात्कार जैसी उत्कट आन्तरिक अनुभूति को उत्पन्न कर सकता है। इस उदाहरण में शब्द प्रमाण का हेतु वही रहता है जिससे शब्द अक्सर परोक्ष प्रमिति उत्पन्न करता है, लेकिन यहाँ उन्हीं हेतुओं के साथ प्रयुक्त शब्द उस व्यक्ति में दसवेंपन के रूप में सर्वथा अपरोक्ष प्रमिति उत्पन्न करता है। परन्तु न्याय–मीमांसादि दर्शन अपनी ज्ञान–मीमांसा में इस बात को मानने के लिए कभी तैयार नहीं हो सकते। उनकी प्रमाण–मीमांसा में प्रत्यक्षादि सभी प्रमाण अपने–अपने ढंग से ज्ञान उत्पन्न करते हैं। विषय एक ही होने पर उसके ज्ञान की अलग–अलग विधायें हो सकती हैं और ज्ञान की विधा की भिन्नता के परिप्रेक्ष्य में ही अलग–अलग प्रमाण परिभाषित होते हैं। अतएव दो या दो से अधिक प्रमाणों का विषयमूलक सम्प्लव तो हो सकता है, लेकिन वे प्रमाण अपनी प्रातिस्विकता में ज्ञान की जिस विधा को लेकर प्रस्तुत होते हैं, उन विधाओं का संप्लव नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए सम्मुख उपस्थित वस्तु का इन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष उसके सामान्य–विशेषात्मक स्वरूप का ग्रहण करता है। पुनः उसी वस्तु के सम्मुख उपस्थित नहीं होने पर अनुमान के द्वारा होने वाला ज्ञान केवल सामान्य रूप ही होता है। अब इस संदर्भ में अद्वैत वेदान्त की दृष्टि थोड़ी भिन्न प्रतीत होती है। उदाहरण के लिए 'पर्वतो वह्निमान्' इस अनुमिति को ही लिया जा सकता है। इस अनुमिति में पक्षभूत पर्वत अनुमाता को प्रत्यक्षतः ही ज्ञात होता है। केवल वह्नि, जो प्रत्यक्ष गोचर नहीं है, वही धूम के द्वारा अनुमित होता है। अब यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि तथाकथित अनुमित्यात्मक ज्ञान का विशेष्य (पर्वत) प्रत्यक्ष गोचर ही है तो अनुमिति का आकार 'पर्वतो वह्निमान्' जैसा कैसे हो सकता है? इस पर यदि यह कहा जाय कि 'वह्नि' या 'वह्निमत्त्व' मात्र ही अनुमिति का विषय है तो क्या 'अत्र वह्निः' अथवा 'किंचित् वह्निः' को अनुमिति का आकार माना जा सकता है? पुन यदि यह बात सही नहीं है, तो फिर अनुमिति या शुद्ध अनुमिति का आकार निश्चित करना अनिवार्यतः अपेक्षित हो जाता है। अनुमान को प्रमाण के रूप में साधने के धुरंधर नैयायिक इस कठिनाई से बचने के लिए 'वह्निमत्त्व विशिष्ट पर्वत' अथवा 'पर्वतवृत्तित्वविशिष्ट वह्नि' को अनुमिति के विषय के रूप में उपवर्णित कर सकते हैं, भले ही अनुमिति का आकार ऊपर बताये गये आकार जैसा ही क्यों न प्रतीत हो।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परन्तु उपरोक्त समाधान को पूरे तौर पर संतोषजनक नहीं कहा जा सकता। अद्वैत वेदान्ती सामान्य अनुभव का अनुसरण करते हुए यह मानने में हिचकिचाते नहीं कि 'पर्वतो वह्निमान्' आकार वाला अनुमित्यात्मक ज्ञान विशेष्यांश में प्रत्यक्ष और विशेषणांश में अनुमित्यात्मक होता है।[3] इस पर यदि यह प्रश्न हो कि एक ही ज्ञान उभयविध कैसे हो सकता है? तो इसका उत्तर यह हो सकता है कि जैसे एक ही विषय विभिन्न प्रमाणों से जाना जाता है वैसे ही एक ही ज्ञान प्रत्यक्ष और अनुमेय विषयग्राही समझा जा सकता है। दूसरे शब्दों में कहें तो एक ही ज्ञान परोक्षापरोक्ष प्रमिति में सम्प्लवित हो सकता है। न्याय और उससे सगोत्रीयता रखने वाले दार्शनिक सम्प्रदाय प्रमाणों का विषयोपलब्धि मूलक सम्प्लव तो स्वीकार करते हैं लेकिन 'तदन्यथाधिगतेः' कहते हुए प्रमिति का सम्प्लव कदापि स्वीकार नहीं करते। अद्वैत वेदान्तियों का शब्दापरोक्षतावाद अपनी ज्ञानमीमांसीय भूमिका में वस्तुतः इसका विरोध करता है और साथ ही साथ यह दिखाता है कि शब्दजन्य परोक्ष प्रमिति किस प्रकार अपने विशिष्ट विनियोग द्वारा अपरोक्ष प्रमिति में सम्प्लवित होती है।

अद्वैतवेदान्ती इस ज्ञानमीमांसीय दृष्टि का उपयोग अपने स्वयूथ्य सौष्ठव के लिए दो प्रकार से करते हैं। इसका एक उपयोग तो 'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' जैसे औपनिषद् वाक्यों का अर्थनिर्णय करते हुए परमात्मा–जीवात्मा का अभेद[4] प्रतिपादित करने लिए और दूसरा अतीव विस्मयकारी उपयोग श्वेतकेतु जैसे ब्रह्मजिज्ञासु अथवा शिष्य को उसकी वास्तविक लेकिन पूर्णतः अज्ञात चैतन्य रूप आत्मसत्ता (सेल्फ आइडेंटिटी) अवबुद्ध कराने के लिए किया जाता है। 'तत्–त्वं–असि इस वाक्य में सर्वनाम तत् पद परमात्मा या परब्रह्म के लिए प्रयुक्त हुआ है और त्वं सर्वनाम पद श्वेतकेतु रूप जीवात्मा का वाचक है। यद्यपि ये दोनों एक दूसरे से भिन्न समझे जाते हैं तथापि इनके ऐक्य का उपदेश गुरु द्वारा श्वेतकेतु को किया गया है। वस्तुतः यही इस वाक्य की अनुपपत्ति है और इसका निवारण अद्वैतवेदान्ती भागत्यागलक्षणा द्वारा करते हैं। इस लक्षणा में लक्ष्य शब्द के रूढ़ अर्थ का कुछ अंश त्याग कर शेष अंश वाक्यार्थ निर्णय के लिए रख लिया जाता है। द्रष्टव्य है कि तत् पद वाच्य 'परब्रह्म' और त्वं पद वाच्य 'जीव' के गुण–धर्म न केवल एक दूसरे से भिन्न हैं बल्कि परस्पर विरोधी भी हैं। अतः भागत्याग लक्षणा के द्वारा दोनों सर्वनाम भूत तत्त्वों के परस्पर भिन्न

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

और विरोधी समझे जाने वाले गुण धर्मों का परित्याग कर उनके आधारभूत अथवा विशेष्यभूत शुद्धचैतन्य को दोनों पदों का लक्ष्यार्थ ठहराया जाता है। इस प्रकार इस महावाक्य का 'जीव–ब्रह्मैक्य अर्थ उद्घाटित होता है।

परन्तु इस प्रकार के अर्थ निर्धारण तक ही इस महावाक्य की उपयोगिता सीमित नहीं है। प्रकृत प्रसंग में एक गुरु द्वारा इस महावाक्य का प्रयोग अतिव प्रभावी ढंग से श्वेतकेतु को लक्ष्य कर किया गया है। श्वेतकेतु की स्वरूप विषयक संभ्रान्त स्थिति इस प्रयोग की पूर्वभूमि है। उदाहरण के लिए मानो कोई सोया हुआ व्यक्ति भयानक स्वप्न देखते हुए अचानक घबराकर जाग जाता है और कुछ क्षण के लिए स्तब्ध होकर यह भी भूल जाता है कि वह कौन है। श्वेतकेतु भी यहाँ ऐसे ही किसी व्यक्ति का प्रतिनिधित्व कर रहा है, जो अपनी तादात्म्यानुभूति खो बैठा है। परन्तु बात ऐसी भी नहीं कि हम सामान्यतः जागृतावस्था में अपनी तादात्म्यानुभूति को सतत जगाये रहते हुए सभी क्रिया व्यापारों को करते जाते हैं। वास्तव में यह अनुभूति स्वतः अज्ञात रूप से हमारे सभी क्रिया–कलापों के साथ चिपकी रहती है और उससे प्रकट भी होती रहती है। इसीलिए अगल–बगल के लोग हमें रोबोट अथवा पागल व्यक्ति नहीं समझते। अतएव श्वेतकेतु भी एक प्रकार से स्वतादात्म्यबोध से विहीन अथवा उसके प्रति शंकाकुल जैसा होकर अपने स्वतत्त्व की खोज में व्यस्त व्यक्ति है। ऐसी स्थिति में गुरु का यह उपदेश कि तुम शुद्ध चैतन्य हो, जीवमात्र हाड़–मांस का पुतला भर नहीं हो, उच्चरित किये जाने पर श्वेतकेतु में एक नई तादात्म्यानुभूति जागृत होती है। ऐसा भी कहा जा सकता है कि गुरु के शब्द श्वेतकेतु में एक नये तादात्म्य का निर्माण कर उसे उसके मन में प्रतिष्ठापित करते हैं। यह बात कुछ–कुछ वैसी ही है जैसे देवता की मूर्तियों को पूजनयोग्य बनाने के लिए मंत्रोच्चार पूर्वक उनकी प्राणप्रतिष्ठा की जाती है, वैसे ही गुरु के शब्द उपदेश रूप में उच्चरित होकर श्वेतकेतु में उस खोये हुए तादात्म्य को पुनः प्रतिष्ठापित करते हैं। यह श्वेतकेतु का स्वात्मसाक्षात्कार अथवा अपरोक्ष स्वरूपानुभव है जो गुरु के उपदेशात्मक शब्दों के श्रवण मात्र से उत्पन्न होता है। महाकवि भवभूति ने अपने प्रसिद्ध नाटक 'उत्तररामचरितम्' में एक वर्णन के प्रसंग में कुछ इसी प्रकार के भाव को प्रकट करते हुए कहा है कि "लौकिकानां हि साधुनां अर्थं वागनुवर्तते। ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति।। तात्पर्य यह है कि लौकिक व्यक्ति चाहे साधु ही क्यों न हो, उसकी भाषा अर्थ का अनुगमन

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

करती है, लेकिन ऋषि–मुनियों (साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः) की वाणी में इतनी सामर्थ्य होती है कि अर्थ ही उस वाणी के पीछे दौड़ते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो ऋषि–वाणी के उच्चारण मात्र से उसकी वाच्यभूत घटना घटित होकर लक्ष्यभूत व्यक्ति को उसका साक्षात्कार या हार्दिक अनुभूति करा देती है। ऋषियों के द्वारा दिये जाने वाले शाप–वरदान इत्यादि की फलवत्ता के मर्म को इस दृष्टि से भी समझा जा सकता है।

द्रष्टव्य है कि आजकल आधुनिक मनोविज्ञान में 'रिग्रेसिव हिप्नोटिज्म' बहुविध रूप से प्रचलित है। इसका एक प्रयोग किसी व्यक्ति की वर्तमान असह्य पीड़ा को मिटाने के लिए उसे उसके अतीत का अतीव प्रभावी ढंग से स्मरण दिला कर किया जाता है। इस प्रक्रिया पर ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से विचार किया जाय तो स्पष्ट ही विदित होता है कि इसमें किसी व्यक्ति की वर्तमानारूढ़ स्वतादात्म्य को स्थगित कर अतीतकालीन स्वतादात्म्य को पुनरुत्पादित किया जाता है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि व्यक्ति को एक विशेष प्रकार के तादात्म्यबोध से दूसरे प्रकार के तादात्म्यबोध में अन्तरित किया जा सकता है। दिन–प्रतिदिन के जीवन में भी स्वाभाविक रूप से व्यक्ति के स्वतादात्म्य बदलते रहते हैं। परन्तु ध्यातव्य है कि इस प्रकार के सभी तादात्म्य बोध सोपाधिक ही हुआ करते हैं। 'दशमस्त्वमसि' के पूर्वोक्त उत्थापित उदाहरण में भी एक सोपाधिक स्वतादात्म्य को बाधित करते हुए दूसरे सोपाधिक स्वतादात्म्य बोध में संचरण है। प्रश्न उठता है कि व्यक्ति का कोई निरुपाधिक स्वतादात्म्य भी सम्भव है क्या? वस्तुतः अद्वैतवेदान्त शारीरक की सत्वसमीक्षा करते हुए 'श्वेतकेतो तत्त्वमसि' महावाक्य के द्वारा व्यक्ति के शुद्ध चौतन्य रूप निरुपाधिक स्वतादात्म्य की ही उपपत्ति प्रस्तुत करता है। इसीलिए यह उपपत्ति मनोवैज्ञानिक स्तर पर घटित नहीं होकर आध्यात्मिक धरातल पर चरितार्थ होती है। 'दशमस्त्वमसि' और 'श्वेतकेतो तत्त्वमसि' के बीच के अन्तर में भी इस बात को देखा जा सकता है। यद्यपि दोनों में शाब्द ज्ञान की भूमिका और ज्ञान का आकार (तदुत्पन्न अपरोक्षानुभूति) एक ही जैसा है, फिर भी दोनों के बीच के सूक्ष्म अन्तर की अनदेखी नहीं की जा सकती। पहले में नवें व्यक्ति के रूप में स्वतादात्म्य बाधित होकर दसवें व्यक्ति के रूप में स्वतादात्म्य अधिगत होता है और दूसरे में एक बारगी सभी सोपाधिक स्वतादात्म्यों का बाध और निरुपाधिक चैतन्य में त्रिकालाबाधित स्वतादात्म्य प्रतिष्ठ होता है। पुनः पहले में 'दशमस्त्वमसि' सुनकर 'दशमोऽहमस्मि' का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अपरोक्षानुभव होता है। अतएव इसमें ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से वृत्तिव्याप्यत्व और फलव्याप्यत्व दोनों रहते हैं। दूसरे में 'तत्त्वमसि' वाक्य को सुनकर 'तत् अहमस्मि' रूप अपरोक्षानुभूति नहीं होती क्योंकि इस अपरोक्षानुभव में वृत्तिव्याप्यत्व तो रहता है लेकिन इसकी फलव्याप्ति नहीं होती।[6]

इस प्रकार हम देखते हैं कि शब्द के माध्यम से सामान्य तौर पर किसी वस्तु का ज्ञान परोक्षतया ही होता है, यहाँ तक कि शब्द का प्रयोग परोक्ष वस्तु के वर्णनार्थ ही प्रयुक्त किया जाता है। यदि कोई वस्तु वक्ता–श्रोता के सम्मुख उपस्थित हो तो उसके लिए शब्द का प्रयोग साक्षात्कार सदृश होने पर भी प्रत्यक्ष ही उस वस्तु के लिए उपयुक्त माना जाता है। अंगुली से निर्देश करते हुए जब किसी व्यक्ति को यह कहा जाता है कि देखो सामने हिरण दौड़ रहा है तो इस परिस्थिति में वस्तुतः हम अपने प्रत्यक्ष को परार्थ बनाते हैं लेकिन वह परार्थ–प्रत्यक्ष होता नहीं है। यहाँ शब्द केवल ध्यान आकर्षित करने के हेतु बनते हैं। श्रोता को 'हिरण दौड़ रहा है' ऐसा ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष ही होता है। परन्तु 'दशमस्त्वमसि' तथा 'तत्त्वमसि' के सन्दर्भ में शब्द हेतु से सर्वथा अपरोक्ष स्वात्मसाक्षात्कार होता है। ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि इस स्थिति में शाब्द हेतु से प्रथमतया परोक्ष ज्ञान ही उत्पन्न होता है और बाद में मनन, निदिध्यासन से सहकृत होकर वह स्वात्मविषयक मानस ज्ञान में पर्यवसित हो जाता है।[7] वास्तव में देखा जाय तो यहाँ अन्वय–व्यतिरेक से वाक्य की ही साधकतम कारणता निश्चित होती है। अन्यथा वाक्य सुनने से पहले चक्षु और मन आदि अन्य सामग्रियों के होते हुए भी साक्षात्कार क्यों नहीं उत्पन्न हो जाता। इसलिए इस सन्दर्भ–विशेष में शब्द ही साक्षात्कार का हेतु होता है (तस्माच्छब्द एव तत्र साक्षात्कारहेतुः)। पुनः इस संदर्भ में यह भी नहीं कहा जा सकता कि यहाँ शब्द का प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव हो जा रहा है। द्रष्टव्य है कि बोध्य से भिन्न अर्थ वाले शब्द से अतिरिक्त होते हुए प्रत्यक्ष प्रमा का कारण होना ही प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव होने का नियामक है।[8] परन्तु दशमत्व का ज्ञान इन्द्रिय से नहीं होता, क्योंकि घोर अन्धकार में अथवा लोचनहीन को भी उक्त वाक्य के श्रवण से दसवेंपन का बोध हो ही जाता है। यह बोध लेश्यतोऽपि परोक्ष नहीं क्योंकि एक ओर 'अस्मि'प्रतीति अपरोक्षबोध का ही प्रत्यायक होती है तो दूसरी ओर इस साक्षात्कार में विषयी ही विषय होता है। 'तत्त्वमसि' के सन्दर्भ में अपरोक्षता का प्रत्ययायन 'अस्मि'प्रतीति से युक्त नहीं होता, फिर भी वह अपने स्वरूप–बल से सर्वथा अपरोक्ष होता है। यहाँ स्वरूपबल का तात्पर्य अपरिच्छिन्नता, स्वयंप्रकाशता, साक्षिभाष्य न

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

होना और विषयी का ही विषय होना तथा फलव्याप्ति न होना इत्यादि है। इस प्रकार अद्वैतवेदान्त के शब्दापरोक्षतावाद का निष्कर्ष यह है कि जैसे परोक्षत्व–व्याप्त एक मानसत्व है और अपरोक्षत्व–व्याप्त दूसरा इन्द्रियत्व है, वैसे ही शब्दत्व को भी परोक्षापरोक्ष मानने में कोई दोष नहीं।

II

अब अद्वैत वेदान्त सम्मत शब्दापरोक्षतावाद के उपर्युक्त स्पष्टीकरण के उपरान्त यहाँ 'उपमानापरोक्षतावाद' का प्रतिपादन अभीष्ट है। यद्यपि यह बात उपमान प्रमाण के पुरस्कारक दर्शनों के द्वारा पूर्ण रूप से विचारित नहीं हुआ है तथापि अद्वैत वेदान्त की शब्दापरोक्षतावादी अन्तर्दृष्टि को आगे बढ़ाया जाये तो उपमानादि शेष प्रमाणों को भी एक सीमा तक 'प्रमाणापरोक्षतावाद' से जोड़ा जा सकता है। द्रष्टव्य है कि स्वेतर बाह्य घट–पटादि वस्तुओं का शब्दजन्य अपरोक्षानुभव अद्वैतवेदान्तियों को भी मान्य नहीं है। यह केवल स्वतादात्म्य उद्‌बोधक वाक्यों पर ही घटित होता है। परन्तु उपमानजन्य अपरोक्षानुभव का सन्दर्भ और परिप्रेक्ष्य ऐसा नहीं है। यह उपमान और उपमेय दोनों के ही अपरोक्षानुभव की सम्भावना को उपस्थित करता है। इस सम्भावना को उद्‌घाटित करने के लिए सर्वप्रथम उपमान प्रमाण का एक सामान्य उदाहरण लेना उपर्युक्त होगा। गवय को न जाननेवाला एक ग्रामीण व्यक्ति किसी आरण्यक से यह जानता है कि गवय नामक प्राणी गाय के आकार–प्रकार का होता है। कुछ समय के उपरान्त वह ग्रामीण व्यक्ति जंगल में भ्रमण करते हुए गाय के आकार–प्रकार का प्राणी देखता है और उसे आरण्यक की बात याद आती है कि गवय गाय के आकार–प्रकार का प्राणी होता है। इस प्रकार तत्काल वह ग्रामीण व्यक्ति जान लेता है कि सम्मुख स्थित या उसके जैसे ही चतुष्पाद प्राणियों को गवय कहा जाता है। इस संज्ञानात्मक प्रक्रिया में गवय में गौ का सादृश्य देखना कारण है। आरण्यक के कथन का स्मरण व्यापार है। सम्मुख दिखता हुआ पशु गवय पद वाच्य है, उपमिति प्रमा है। इस उपमिति रूप प्रमा को प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता क्योंकि इन्द्रिय व्यापार के उपरत हो जाने पर भी यह ज्ञान उत्पन्न होता है। इसे अनुमिति भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि व्याप्ति ज्ञान के बिना ही यह ज्ञान उत्पन्न होता है। यह शब्द ज्ञान भी नहीं क्योंकि यहाँ गवयत्वविशिष्ट का उपस्थापक कोई शब्द नहीं है, प्रत्युत गवय पद के अर्थ का ग्रहण हो रहा है। इस प्रकार उपमान एक स्वतंत्र प्रमाण है जिसका अन्तर्भाव किसी अन्य प्रमाण में नहीं किया जा सकता।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भारतीय दर्शनों में मीमांसा, अद्वैत वेदान्त और नैयायिकों ने उपमान प्रमाण की स्वायत्तता को पर्याप्त महत्त्व के साथ स्वीकार किया है, लेकिन ये तीनों दार्शनिक सम्प्रदाय अपने–अपने प्रयोजनों के अनुरूप इसकी अलग–अलग व्याख्या करते हैं। मीमांसकों को 'प्रकृतिवत् विकृतयः कर्तव्याः' ऐसे व्यापक अतिदेश में प्रविष्ट सादृश्य बोधक 'वत्' शब्द की उपपत्ति तथा अर्थ स्पष्टीकरण के लिए सादृश्य वस्तु के ज्ञापक की अपेक्षा है। अतएव मीमांसक सादृश्य ज्ञान के साधक रूप में उपमान प्रमाण तथा फल रूप में उपमिति प्रमा को स्वीकार करते हैं। अद्वैत वेदान्तियों का लक्ष्य है ब्रह्म की अद्वितीयता को सिद्ध करना और मिथ्यात्व के लक्षण में ही यह निहित है कि वह सत्, असत् और सदसत् आदि कोटियों से विलक्षण होता है। इस वैलक्षण्य की व्याख्या साधर्म्य–वैधर्म्य ज्ञान के बिना सम्भव नहीं। अतः अद्वैतवेदान्तियों के लिए सादृश्य प्रमा–रूपा उपमिति और उसका करण उपमान को मानना आवश्यक हो जाता है। नैयायिक शब्द ज्ञान के उपजीवक के रूप में उपमान का प्रामाण्य मानते हैं। इसमें शब्द का शक्ति ग्रहण अथवा शब्द का अर्थ समझना फल होता है। नैयायिकों के लिए उपमा या उपमान प्रमाण के प्रयोग से प्राप्त किया गया ज्ञान एक नये शब्द के अर्थ का ज्ञान है। इसीलिए शब्द–शक्ति–ग्रह के अन्यतम साधन के रूप में उपमान की गणना न्याय परम्परा में विशेष रूप से की जाती है।[10]

अब उपर्युक्त तीनों दर्शनों में अपने–अपने दार्शनिक प्रयोजनों के अनुसार उपमान की जैसी व्याख्या की गई है वह दो परस्पर उल्टी दिशाओं में गति लेती है। एक गति गोनिष्ठ गवयसादृश्य की ओर है। इसका समर्थन मीमांसक और अद्वैत वेदान्ती करते हैं। दूसरी गति गवयनिष्ठ गोसादृश्य की ओर है। इसका समर्थन केवल नैयायिक करते हैं। पहले में उपमान की फलवत्ता 'गवयसदृशी मदीया गौः' रूप ज्ञान में होती है। ज्ञान के इस रूप में प्रत्यक्ष, स्मृति और शब्द का सहकार होता है। इसीलिए मीमांसकों और अद्वैतवेदान्तियों के उपमान को लेकर अन्तर्भाव की समस्या येन–केन प्रकार से उठाई जाती रही है। दूसरे में उपमान की अन्तर्वस्तु गवयनिष्ठ गो सादृश्य ही है लेकिन यह गवयपदवाच्यत्व प्रकारिका प्रतीति के रूप में फलित होता है। यहाँ यह कहना अनुचित नहीं होगा कि नैयायिकों की शब्द–शक्ति–ग्रह के एक महत्त्वपूर्ण घटक के रूप में उपमान की अवधारणा उपमान विषयक उहापोह का उत्कृष्टतम निष्कर्ष है। उपमान के इस स्वरूप को लेकर भी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अन्तर्भाव की समस्या उठाई जा सकती है कि प्रकृत प्रसंग में शब्द–शक्ति–ग्रह अन्य प्रमाण से भी हो सकता है। परन्तु इस बात को यदि मान भी लिया जाय तो यह मानने में कोई हानि नहीं कि एक स्थिति ऐसी भी हो सकती है जहाँ शब्द–शक्ति–ग्रह उपमित्यात्मक रूप से ही होती हो।

द्रष्टव्य है कि मनुष्य की संज्ञानात्मक प्रक्रिया में साधर्म्य–वैधर्म्य–प्रत्यक्ष की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। हम अपने व्यावहारिक जीवन में साधर्म्य–वैधर्म्य बोध के साथ उपमानों का बहुआयामी प्रयोग करते हैं। ऐसे प्रयोगों से उपमेय और उपमान के ज्ञान में जो अर्थ प्रकर्षात्मक विलक्षण अभिवृद्धि होती है और यहाँ तक कि दोनों के आन्तरिक स्वरूप के सर्वथा अभिनव आयाम द्रष्टा के समक्ष उभरते हैं। नैयायिक उपमान के इस आयाम में विशेष अभिरुचि नहीं लेते । यद्यपि वात्स्यायन[11] ने 'एवमन्योऽपि उपमानस्य लोके विषयो बुभुत्सितव्य इति' यह कहते हुए उपमान के अवान्तर आयामों को संकेतित तो किया है लेकिन परवर्ती नैयायिकों ने उपमान के प्रयोग से एक नये शब्द के अर्थ की जानकारी प्राप्त कर लेना ही पर्याप्त समझा है। वस्तुतः साहित्यशास्त्र में इदंप्रथमतया उपमान प्रमाण के उस आयाम को उद्घाटित किया जाना सम्भव हुआ है जिसे दार्शनिकों ने या तो देखा नहीं या फिर अपनी अवधारणात्मक योजना में उसे शामिल करना उचित नहीं समझा। उदयनाचार्य ने तो 'परिशुद्धि' में आलंकारिकों के उपमान का भूरिशः खण्डन भी किया है। साहित्यकारों के लिए उपमान एक अलंकार है जो वाक्यार्थ की शोभा बढ़ाने का शाब्दिक साधन है। महापण्डित अप्पय दीक्षित[12] ने उपमा जन्य अर्थ विप्रकर्ष को ध्यान में रखते हुए उचित ही कहा है कि 'उपमा यत्र सादृश्यलक्ष्मीः उल्लसति द्वयोः'। अर्थात् उपमान और उपमेय के सादृश्य प्रयोजक गुण–धर्मों की शोभा उपमान प्रमाण के प्रयोग से खिल उठती है। इन दोनों के सम्बन्ध में प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा जिन बातों को हम जान नहीं पाते हैं उसे एक दूसरे से उपमित कर जान पाना सद्यः रूप से सम्भव हो पाता है। उपमान प्रमाण के इस आयाम को साहित्यशास्त्र के उपमालंकार विषयक विभिन्न प्रयोगों और सन्दर्भों में देखा जा सकता है। इस तथ्य के स्पष्टीकरणार्थ सम्प्रति कालिदासकृत रघुवंश के एक प्रारम्भिक श्लोक को यहाँ उदाहृत करना प्रासंगिक होगा।

क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्वच अल्पविषया मतिः।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्।।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इस श्लोक में महाकवि कालिदास कहते हैं कि सूर्यवंशी महाप्रतापी रघु, अज आदि राजाओं की वंशपरम्परा की श्रेष्ठता का बखान करने में मेरी क्षुद्र बुद्धि समर्थ नहीं हो सकती है। फिर भी मैं ऐसे कार्य को सम्पन्न करने का प्रयास कर रहा हूँ। यह मेरा प्रयास ठीक वैसा ही है जैसे कि एक छोटी सी नैय्या के द्वारा समुद्र को पार करने का एक अनाड़ी व्यक्ति का प्रयास। इस वर्णन में उपमेयभूत जो कालिदास का रघुवंश वर्णन परक काव्यरचना का प्रयास है उसकी उपमानभूत महाप्रतापी रघुवंश की असाधारण श्रेष्ठता के साथ तुलना कर उपमेय की आत्यन्तिक क्षुद्रता और उपमान की आत्यन्तिक श्रेष्ठता बड़े रोचक ढंग से प्रदर्शित की गई है। यह उपमेय और उपमान के आन्तरिक स्वरूप का एक प्रकार से साक्षात्कार जैसा ही है जो उपमान प्रमाण के काव्यात्मक प्रयोग से सम्भव हुआ है। अतएव कहा जा सकता है कि जो बात सामान्यतः ज्ञात या प्रतीत होती है उसे अच्छी तरह अर्थात् उसके अंतरंग में प्रवेश कर जानने हेतु उसकी तुलना अन्य अज्ञात या उससे असम्बद्ध प्रतीत होने वाली बात से करना उपमान प्रमाण का कार्य है। उपर्युक्त उदाहरण में छोटी सी नाव का रघुवंशीय राजाओं के चरित्र वर्णन से कोई सम्बन्ध नहीं है परन्तु कवि–प्रतिभा ने इन दोनों को उपमानोपमेयभाव सम्बन्ध से ग्रथित कर इन दोनों के आन्तरिक स्वरूप का हस्तामलकवत् प्रकटीकरण किया है। यह कार्य किसी अन्य प्रमाण के द्वारा सम्पादित नहीं हो सकता। इस प्रक्रिया में साहित्यशास्त्रीय सि्द्धान्तों के अनुसार उपमान और उपमेय बिम्ब–प्रतिबिम्ब जैसे कार्य करते हैं। उपमान के जैसे गुण उपमेय में और उपमेय के जैसे गुण उपमान में अपने आप इस प्रक्रिया से प्रस्फुटित होते हैं। वास्तव में यह उपमान और उपमेयभूत वस्तु के स्वरूप का साक्षात्कार अथवा अपरोक्षानुभव ही है जो किसी न किसी तरह उपमान प्रमाण के विशिष्ट प्रयोग से जुड़ा हुआ है। एक श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु जिस प्रकार अपने उपदेश (श्वेतकेतो तत्त्वमसि) के द्वारा एक योग्य शिष्य को उसकी विस्मृत या अज्ञात चैतन्यमय सत्ता का साक्षात्कार करा देता है वैसे ही उपमान का प्रयोग भी कविगण वस्तुस्वरूप साक्षात्कार के लिए किया करते हैं। वस्तुस्वरूप का ऐसा साक्षात्कार स्पष्ट ही ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष के लिए अनुपलब्ध ही रहता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि उपमान प्रमाण के काव्यशास्त्रीय प्रयोग में उपमान प्रमाण के सभी गुण–सूत्र वैसे ही अन्तर्विष्ट रहते हैं लेकिन तज्जन्य प्रमिति और अर्थबोध का विस्तार एक साक्षात्कारी आयाम को अवाप्त कर लेता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

III

अब शब्द प्रमाण और उपमान प्रमाण के सम्बन्ध में प्रमाण अपरोक्षतावाद का विचार करने के उपरान्त यहाँ अनुमिति मूलक प्रमाण अपरोक्षतावाद की सम्भावना को तलाशना विवक्षित है। द्रष्टव्य है कि परोक्ष प्रमाणों में अनुमान का स्थान न केवल आधारभूत है बल्कि मानक प्रकार का भी है। इसीलिए अनुमानेतर परोक्ष प्रमाणों का अन्तर्भाव भी प्रायशः अनुमान में ही किया जाता है। इस कारण अनुमान की गणना अनन्तर्भाव्य परोक्ष प्रमाण के रूप में की जाती है। अद्वैत वेदान्ती भले ही अनुमान को अंशतः प्रत्यक्षात्मक मानते हैं लेकिन अनुमान की प्रक्रिया पूर्ण होने तक वह परोक्ष विषयावगाही ही होता है। ऐसी स्थिति में अनुमान प्रमाणमूलक अपरोक्षतावाद का समर्थन निश्चय ही एक चुनौतीपूर्ण कार्य है फिर भी इस सम्भावना की जाँच–पड़ताल के लिए सर्वप्रथम अनुमान का एक सामान्य उदाहरण लेना और उसके निहितार्थों का विश्लेषण करना उचित होगा।

कोई पर्वत के शिखर से धुएँ के अंबार को उठते देख कर यह अनुमान कर लेता है कि धुएँ के आस–पास आग भड़की हुई है। अवधेय है कि अग्नि विषयक यह अनुमान अग्निविशेष का अनुमान नहीं होता क्योंकि अग्नि के अनेक प्रकार सम्भव हैं। उदाहरण के लिए बम फटने से उत्पन्न होने वाली, बिजली गिरने से पैदा होने वाली, वायुमंडल में भयानक उष्णता के कारण अपने आप भड़क उठने वाली अग्नि के ऐसे अनेक प्रकार हो सकते हैं। प्रकृत प्रसंग में धुएँ को देखकर कोई भी द्रष्टा धुएँ का कारण किस प्रकार की अग्नि है, यह कदापि नहीं जान सकता। वैसे भी जिस हेतु और साध्य की व्याप्ति के ज्ञान के आधार पर अनुमाता धूम को देखकर अग्नि का अनुमान करता है वह व्याप्ति सामान्यात्मक ही होती है। सामान्यात्मक इस अर्थ में कि कोई न कोई धूम किसी न किसी अग्नि से अवश्य सहचरित होता है। अब चूँकि धूम और अग्नि के मध्य व्याप्ति का स्वरूप ऐसा ही होता है, इसलिए धूम विशेष के दृष्टिगोचर होने पर भी अनुमाता उसके आधार पर अग्नि सामान्य का ही अनुमान कर पाता है। यही कारण है कि अनुमान के सम्बन्ध में सिद्धसाधनता का दोष प्रायशः उद्भावित किया जाता है। इस दोष का समाधान तर्करसिक नैयायिक संतोषप्रद रूप से दे पाये हों, ऐसा निश्चित तौर से कह पाना कठिन ही है। यह दोष इसलिए उत्पन्न होता है कि हेतु और साध्य की व्याप्ति नितान्त सामान्यात्मक होने से व्याप्ति ज्ञान के समय ही यह बात ज्ञात हो जाती है कि जहाँ कहीं भी धूम होता है वहाँ

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आस–पास अग्नि आवश्यक रूप से रहती है। अतः सिद्ध साधनता का व्याप्ति आधारित अनुमान की प्रक्रिया में आक्षिप्त हो जाना स्वाभाविक ही है।[13] सम्भवतः इसी प्रकार के आक्षिप्त दोष के निराकरणार्थ ही आंग्ल तार्किक जॉन्सन ने दो प्रकार के आनुमानिक प्रामाणिकताओं को प्रस्तावित किया था। इसमें पहले को कॉन्स्टीट्यूटिव वैलिडिटी और दूसरे को एपिस्टिमिक वैलिडिटी कहा जाता है। अनुमान घटित होने से पूर्व हेतु का साध्य के साथ जो नियत सम्बन्ध ज्ञात होता है और उसके आधार पर साध्य की जो सिद्धि सामान्य रूप से होती है उसका ज्ञान की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं है। इस सिद्धि (कॉन्स्टीट्यूटिव वैलिडिटी) के बावजूद भी अनुमान स्थल में 'अग्नि है' यह ज्ञान उस स्थल में दृग्गोचर हुए धूम के ज्ञान से ही हो सकता है। इसी ज्ञान को ज्ञानमीमांसीय सिद्धि (एपिस्टेमिक वैलिडिटी) कह सकते हैं क्योंकि आनुमानिक ज्ञानमीमांसीय प्रक्रिया यहीं पूर्णता को प्राप्त होती है। नैयायिक इस दोष का समाधान दूसरे प्रकार से करते हैं। उनके अनुसार आनुमानिक निष्कर्ष का स्वरूप उपर्युक्त स्थल में 'वह्विव्याप्यधूमवान् पर्वतो वह्निमान्' ऐसा होता है।[14] इस निष्कर्ष पर सिद्धसाधनता दोष का आरोप नहीं लगाया जा सकता। परन्तु जैसा भी हो, एक बात तो उपर्युक्त विष्लेषण से अवश्य ही उभर कर सामने आती है कि आनुमानिक प्रक्रिया से प्राप्त होने वाला ज्ञान बहुत कुछ चर्वित–चर्वण जैसा ही होता है।

इस कारण अब इस बात को देखना रोचक हो सकता है कि अनुमान को एक विशेष प्रकार का साक्षात्कार अथवा अपरोक्षानुभव का साधन एक विशेष प्रक्रिया के तहत कैसे ठहराया जा सकता है? एतदर्थ ज्योतिर्विज्ञान से सम्बन्धित एक घटना को उदाहृत करना यहाँ समीचीन होगा।[15] प्रसिद्ध ज्योतिर्विद बोवर्ड के द्वारा यूरेनस नामक आठवें ग्रह की खोज किये जाने के कुछ ही दिनों बाद एक युवक ज्योतिर्विज्ञानी लेवेरियर को यह दिखाई पड़ा कि यूरेनस ग्रह का जो भ्रमण कक्ष निर्धारित किया गया है उससे वह हटकर ही भ्रमण करता है। अब इस पहेली पर सोचते हुए कि यूरेनस विचलित भ्रमण क्यों करता है, लेवेरियर के सामने अनेक विकल्प सूझने लगे। जैसे यह सम्भव है कि सौरमण्डल का कोई बलवान् ग्रह अपनी आकर्षण शक्ति से यूरेनस को उसकी कक्षा से दूर ढकेल देता हो या फिर यह भी सम्भव है कि कोई बाहरी ग्रह उसे अपनी ओर आकृष्ट करता हो। इस तरह के अनेक विकल्पों का परीक्षण और विशलेषण गणितीय एवं सौर मण्डल की ज्ञात स्थितियों के आधार पर करते हुए लेवेरियर को अकस्मात्

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

साक्षात्कार जैसी प्रतीति हुई कि कोई बाहरी ग्रह, जिसका आकार, कक्ष और गति गणितिक रूप से निर्धार्य है, यूरेनस को उसकी पूर्व निर्धारित कक्षा से दूर हटाता है। स्पष्ट है कि लेवेरियर को यूरेनस विषयक जो अपरोक्षानुभूति हुई वह तद्विषयक भिन्न–भिन्न जानकारियों और हेतुओं को योग्य तरीके से समायोजित करने से ही सम्भव हुई। अपनी इस प्रतीति के आधार पर लेवेरियर ने इंगलैण्ड के राज्य ज्योतिषी को सूचित किया कि आकाश में एक विशेष स्थान पर वेध करने से एक विशेष प्रकार का, अब तक अज्ञात, ग्रह दिखाई पड़ सकता है। इस सूचना के आधार पर राजज्योतिषी ने वेध तो किया लेकिन विलम्ब से, फिर भी लेवेरियर की प्रतीति शतप्रतिशत सत्य सिद्ध हुई। इस उदाहरण में एक ही सत्य निष्कर्ष के भिन्न–भिन्न अंशों को भिन्न–भिन्न हेतुओं द्वारा निर्धारित किये जाने के पश्चात् उन्हें सही तरीके से जोड़कर एक समुचित निष्कर्ष निकाला गया है। यह भिन्न–भिन्न अंशों के योग्य समायोजन करने की दृष्टि ही अपरोक्षानुभव या आनुमानिक साक्षात्कार सदृश कही जा सकती है। यदि यह दृष्टि द्रष्टा को निसर्गतः प्राप्त न हो तो वह अनुमान के लिए अपेक्षित सभी जानकारियाँ हासिल कर भी उपयुक्त समुचित निष्कर्ष तक नहीं पहुँच सकता। उच्च कोटि के खोजी व्यक्ति में यह दृष्टि हुआ करती है और इतिहास के कई एक महत्त्वपूर्ण खोजों में आनुमानिक साक्षात्कार की यह दृष्टि चरितार्थ भी हुई है। इसके न होने पर कैसे निष्कर्ष सम्बन्धी अपेक्षित जानकारियों को प्राप्त कर भी अनुमान गलत निष्कर्ष पर पहुँच जाता है, इसके लिए किंवदन्ती पर आधारित एक उदाहरण लेना यहाँ स्थाने होगा। कहा जाता है कि एक विख्यात ज्योतिषी अपने एक शिष्य को ज्योतिष शास्त्र में पारंगत कर परीक्षणार्थ एवं सम्मानार्थ राजा विक्रमादित्य के दरबार में ले गया। राजा ने इस नवोदित ज्योतिषी के परीक्षणार्थ अपनी मुट्ठी में हीरे की एक अंगूठी रख लिया और पूछा कि मेरी मुट्ठी में क्या है? नवोदित ज्योतिषी ने गोचर ग्रहों की स्थिति और प्रश्न काल के गणना के आधार पर सर्वप्रथम यह बताया कि मुट्ठी में कोई गोल वस्तु होनी चाहिए। पुनः ग्रहस्थितियों का और भी सूक्ष्मता से परीक्षण करने के उपरान्त ज्योतिषी ने दूसरा निष्कर्ष यह बताया कि उस गोल वस्तु के बीच में छेद होना चाहिए, इसके बाद तीसरा निष्कर्ष ज्योतिषी ने बताया कि उस गोल वस्तु के मध्य में जो छिद्र है, उसमें धातु की बनी हुई कोई छोटी वस्तु जड़ी होनी चाहिए। राजा इस नवोदित ज्योतिषी के फलित ज्ञान को देख कर बहुत प्रसन्न हुए और यह कह उठे कि आप वास्तव में ज्योतिष शास्त्र में पारंगत हो गये हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अब तो आप लगभग जान ही गये हैं कि मेरी मुट्ठी में क्या बंद है, तो सभी लोगों को यह बता ही दीजिये कि मेरी मुट्ठी में आखिर है क्या? नवोदित ज्योतिषी ने तपाक से कहा कि आपकी मुटठी में चक्की है। द्रष्टव्य है कि अच्छे खोजी भी किस प्रकार निष्कर्ष को विभिन्न सम्भावनाओं के बीच प्रतीकतया साक्षात्कृत कर पाने की निसर्गतः परिपक्व दृष्टि के अभाव में गलतियाँ कर बैठते हैं।

IV

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचित उदाहरणों से इस तथ्य पर किंचित् प्रकाश अवश्य पड़ता है कि अनुमान का एक ऐसा आयाम सम्भव है जहाँ पीछे प्रदर्शित उदाहरणों के मुताबिक अनुमान की कॉन्स्टीट्यूटिव वैलिडिटी अपरोक्षानुभव या साक्षात्कार रूप एपिस्टेमिक वैलिडिटी में फलित होती है। सामान्य अनुमानों में यह बात उभर कर सामने नहीं आती। ऐसे अभ्यस्त अनुमान (धूम से वह्नि का अनुमान) तो अनुमान जैसे ही नहीं लगते। बर्टेण्ड रसेल ने ऐसे अनुमानों को जो दैहिक अनुमान (फिजियोलाजिकल्स इन्फरेंस) कहा था वह एक सीमा तक अनुभव संगत ही प्रतीत होता है। यहाँ कुछ लोग ऐसा सोच सकते हैं कि अनुमान का पूर्वभावी प्रत्यक्ष तो स्वयं में साक्षात्कार है ही। इस कारण अनुमान के साथ साक्षात्कार या अपरोक्षानुभव जुड़ा ही रहता है। अतः इस बात को अलग से सिद्ध करने की आवश्यकता ही नहीं है। परन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है। द्रष्टव्य है कि पाश्चात्त्य विश्लेषणवादियों और बौद्धनैयायिकों ने प्रत्यक्ष को चीरफाड़कर उसे एक अनभिलाप्य बिन्दुक्षण में रूपान्तरित कर दिया है जो वास्तव में उस ज्ञान की दृष्टि से अज्ञेय क्षण (ज्ञानेन प्रापयितुमशक्यत्वात्) है जो ज्ञान अनुमान पूर्वभावी रूप में अनुमान का आधार बनता है। सेन्स–डेटा, सेन्स–कन्टेन्ट इत्यादि जो क्षणमात्र के लिए इन्द्रिय–सम्मुख प्रकट होकर तिरोहित हो जाते हैं, वही पश्चिमी विश्लेषणवादियों के लिए प्रत्यक्ष के विषय हैं। बौद्ध नैयायिकों का मंतव्य भी लगभग इसी प्रकार का है। प्रत्यक्ष विषयक ऐसे मंतव्य को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि अत्यन्त कर्णप्रिय और मधुर संगीत अनन्त विसदृशक्षणावच्छिन्न तानों की संतति मात्र है। वास्तव में गीत–संगीत नाम की कोई वस्तु ही नहीं है। यह सबकुछ कल्पनामात्र, कल्पना–विलास है। इस तरह देखा जाय तो यह प्रत्यक्ष का एक प्रकार से दार्शनिक अप्रत्यक्षीकरण है और इस प्रक्रिया में हृदयग्राही साक्षात्कारात्मक अनुभूति के लिए कोई स्थान ही नहीं रह जाता।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

न्याय दार्शनिक प्रत्यक्ष की ऐसी चीर–फाड़ नहीं करते। उनका प्रत्यक्ष मनुष्योचित साधारण अनुभव से अधिक निकटता रखता है। इन्द्रियों से गुणजात्यादियुक्त समग्र वस्तु का ही प्रत्यक्षज्ञान हुआ करता है, भले ही उस वस्तु का एक ही अंश इन्द्रिय सम्मुख क्यों न होता हो। परन्तु प्रश्न उठता है कि वस्तु विषयक ऐसे ज्ञान को भी क्या सही अर्थों में साक्षात्कारी ज्ञान या अपरोक्षानुभव से अभिहित किया जा सकता है? द्रष्टव्य है कि साक्षात्कार सही अर्थों में सम्मुख स्थित वस्तु का पूर्ण रूप से विषयीकरण मात्र नहीं है। विषयी द्रष्टा विषय के अतंरंग में एक प्रकार से प्रवेश कर जब तक उस विषय के साथ तादात्म्यानुभव नहीं करता, तब तक उसे विषयसाक्षात्कार हुआ ऐसा नहीं कहा जा सकता। अद्वैत वेदान्ती जब औपनिषदृष्टि को प्रस्तावित करते हुए यह कहते हैं कि 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' तो यह बात सम्पूर्ण भारतीय ज्ञान–मीमांसा के लिए एक महत्त्वपूर्ण अन्तर्दृष्टि है। अवधेय है कि अद्वैत वेदान्ती इस ज्ञानमीमांसीय अन्तर्दृष्टि को केवल ब्रह्मज्ञान तक ही सीमित नहीं रखते बलिक इसका सम्प्लव घटपदादि वस्तुओं के ज्ञान में भी दिखाते हैं। ब्रह्मज्ञान का ही वर्णन करते हुए उपनिषद् में पुनः कहा गया है कि 'यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन नान्तरमेवमेवायम्[16]........।' जिस प्रकार अपनी प्रियतमा के आलिंगन में आबद्ध होने पर प्रणयी सबकुछ भूलकर प्रियतमा के अस्तित्व में अपनी और अन्य सभी सत्ताओं को विलीन कर देता है, उसी प्रकार न केवल ब्रह्म साक्षात्कार बल्कि साधारण वस्तुओं का भी साक्षात्कार हो सकता है। वस्तुतः हमारी देहाधिष्ठित वस्तुमात्र के नैसर्गिक विषयीकरण की जो प्रक्रिया है, वह साक्षात्कार को प्रतिबन्धित कर देती है। आत्मप्रत्यक्ष भी तो प्रत्यक्ष ही है। क्या हम आत्मा का मनःपूर्वक विषयीकरण कभी करते हैं? यह बात अलग है कि शरीराधिष्ठित विषयीकरण की प्रवृत्ति में अभ्यस्त होने के कारण हम अपनी आत्मा के सम्बन्ध में भी तटस्थता से वस्तुवाची पदावली में ही बाते करते हैं। यदि आत्मानुभव अपने स्वरूप में पूर्णतया इदं रूप विषयभाव से रहित होता है, तो अन्य वैषयिक अनुभव भी ऐसे क्यों नहीं हो सकते, वस्तुओं का विषयीकरण या उन्हें अपने से भिन्न एक प्रदत्त विषय के रूप में आकलन करने की हमारी देहाधिष्ठित प्रवृत्ति एक प्रक़ार से उनपर किया गया ज्ञानमीमांसीय अनाचार ही है। इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप हम अधिकांश वस्तुओं को अपने से अत्यन्त भिन्न प्रकार की जड़ात्मक और यहाँ तक कि सत्तात्मक दृष्टि से निम्न कोटि का समझते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जबकि वास्तविकता यह है कि ज्ञान की व्याख्या में ज्ञाता–ज्ञेय सम्बन्ध के भागीदार दोनों सम्बन्धियों की प्रस्थिति और भूमिका को लेकर इस प्रकार के भेदभाव के लिए कोई स्थान ही नहीं होना चाहिए।

अतएव उपर्युक्त बातों को यदि ध्यान में रखा जाय तो ज्ञान की व्याख्या को दैहिक सन्दर्भ से हटाकर विशुद्ध चेतना के सन्दर्भ में व्याख्यायित किया जा सकता है। यद्यपि चेतना ज्ञानोन्मुख व्यापार में आवश्यक रूप से दैहिक–ऐन्द्रिक माध्यम से ही प्रवर्तित होती है लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि माध्यम की प्रस्थिति और भूमिका को ही इतना गरिमामय मान लिया जाय कि वही वास्तविक विषयी को विस्थापित कर स्वयं विषयिभावापन्नता को अवाप्त कर ले। भारतीय दर्शनों में केवल अद्वैत वेदान्त ही एक सीमा तक ज्ञान की व्याख्या में इस ज्ञानमीमांसीय दृष्टि को चरितार्थ करता है। इसीलिए अद्वैत वेदान्तसम्मत प्रत्यक्ष की अवधारणा में साक्षात्कारित्व का जो स्वरूप उभर कर सामने आता है उसे उसका वास्तविक स्वरूप कहा जा सकता है।[17] उनके अनुसार द्रष्टा के अन्तःकरणवृत्यवच्छिन्न चैतन्य का विषयावच्छिन्न चैतन्य के साथ एक रूप हो जाना ही प्रत्यक्ष की प्रक्रिया का घटित होना है। प्रत्यक्ष होने की स्थिति में वस्तुतः विषयविषयिभाव समाप्त हो जाता है और अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य रूप द्रष्टा अपनी तात्कालिक ऐन्द्रिक वृत्ति के द्वारा विषय के साथ एकाकार होकर एक प्रकार से उसका आलिंगन करता हुआ उसकी सत्ता में अपनी सत्ता को विलीन कर देता है। यही स्थिति प्रत्यक्षात्मक साक्षात्कार की वास्तविक स्थिति है। व्यवहारदशा में ऐसे साक्षात्कारित्व का अनुभव अत्यन्त मधुर संगीत सुनते हुए अथवा अत्यन्त मनोहारी दृश्य देखते हुए द्रष्टा को अक्सर प्राप्त होता है। दैहिक–ऐन्द्रिक सन्दर्भ में ज्ञान की व्याख्या करते हुए ऐसे प्रसंगों की व्याख्या दुष्कर होती है क्योंकि इस प्रकार के अनुभवों में विषयविषयिभाव का वह प्रारूप जो साधारण प्रत्यक्ष में दृष्टिगोचर हुआ करता है, उसका एक तरह से अतिक्रमण हो जाता है। इस स्थिति में तो द्रष्टा की आत्मरूप विषयिता भी शुद्ध आनन्दमय चेतना में विलीन हो जाती है। द्रष्टव्य है कि साधारण प्रत्यक्ष में हम वस्तुओं की देखी–अनदेखी या ध्वनि को सुना–अनसुना कर देते हैं, क्योंकि व्यावहारिक जीवन में कोई भी ज्ञान कामचलाऊ समझकर ही प्रयोग में लाया जाता है। ज्ञेय कैसा भी हो लेकिन ज्ञाता की ज्ञानमीमांसीय भूमिका में हम ज्ञेय विषय की अपेक्षा ज्ञाता को श्रेष्ठ ही समझते हैं। इस कारण ज्ञेय के साथ एकतानता का अनुभव हमें क्वचित् ही हो पाता है। अद्वैतवेदान्तीय

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रत्यक्ष की अवधारणा इसी एकतानता अथवा विषय–विषयी की तात्कालिक एकरूपता का संकेत करती है। यदि अद्वैत वेदान्त की प्रमाण–मीमांसा में प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों की अवधारणा भी इसी दृष्टि को चरितार्थ करते हुए की जाती तो यह निश्चय ही ज्ञानमीमांसीय चिन्तन के लिए एक महत्त्वपूर्ण पहल होती। हमने तो यहाँ केवल इसी अन्तर्दृष्टि को आत्मसात् करते हुए शब्द, उपमान और अनुमान प्रमाण के सन्दर्भ में विषय–विषयी की एकतानता के उस आयाम की सम्भावना को रेखांकित करने का प्रयास किया है, जहाँ उनका सम्बन्ध प्रमाण अपरोक्षतावाद से जुड़ता है। स्वयं अद्वैतवेदान्ती भी यद्यपि 'दशमत्वमसि' के प्रसंग में शब्दापरोक्षतावाद को तो देख पाये, परन्तु अन्य प्रमाणों से सम्बद्ध प्रमाणापरोक्षतावाद को नहीं देख सके। वस्तुतः दैहिक–ऐन्द्रिक सन्दर्भ में ज्ञान की व्याख्या करते हुए इन प्रमाणों की अपरोक्षतावादी प्रवृत्ति को नहीं देख पाना एक तरह से उनके समक्ष अव्याप्ति–प्रसंग को उपस्थापित करता है लेकिन विशुद्ध चेतना के सन्दर्भ में ज्ञान की मीमांसा करते हुए यावत् प्रमाणों की प्रवृत्ति को 'नोइंग बाय बींग' अर्थात् जानने का मतलब होने के प्रारूप में पूरे तौर से व्याख्यायित किया जाना अभी शेष है।

दर्शन विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर, (म.प्र.)

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणी –

1. *अद्वैत वेदान्त के इतिहास में शब्दापरोक्षतावाद की उपपत्ति भामती और वार्तिक सम्प्रदाय के मध्य ब्रह्मज्ञान के साधनों को लेकर हुई है। "आत्मा का अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इस श्रुति द्वारा स्पष्ट रूप से श्रवण, मनन और निदिध्यासन का विधान ब्रह्मज्ञान के साधनभूत रूप में किया गया है। इसमें भामतीप्रस्थान का अभिमत यह है कि श्रवण–मनन से संस्कृत और शुद्ध हुआ मन ब्रह्मसाक्षात्कार का कारण बनता है। अतः श्रवण, मनन वास्तव में निदिध्यासन के प्रति अंग हैं और निदिध्यासन ही अंगी अथवा प्रधान है। इसके विपरीत वार्तिक प्रस्थान का अभिमत यह है कि श्रवण ही प्रधान है और मनन तथा निदिध्यासन उसके अंग हैं। यहाँ विवाद का विषय यह है कि जब श्रुति यह कहती है कि 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' तो ब्रह्मानुभव को भी सर्वथा अपरोक्ष होना चाहिए। ऐसी स्थिति में श्रवण मात्र से ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं हो सकता क्योंकि शब्द परोक्ष प्रमा*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

का साधन है। पुनः ब्रह्मज्ञान का प्रतिबन्ध यदि भ्रम रूपा अविद्या है तो उसकी निवृत्ति प्रत्यक्ष प्रमा से ही होती है। इसपर वार्तिक प्रस्थान का (सुरेश्वराचार्य का) प्रत्युत्तर यह है कि शब्द प्रमाण का फल प्रत्यक्ष या अपरोक्ष रूप हो सकता है। इसलिए 'श्वेतकेतो तत्त्वमसि' वाक्य के श्रवण से ही श्वेतकेतु को ब्रह्म साक्षात्कार हो जाता है। इसके लिए मनन व निदिध्यासन की आवश्यकता नहीं है। अब प्रश्न उठता है कि शब्द किस प्रकार अपरोक्ष प्रमा रूप फल को उत्पन्न करता है तो इसी के उत्तर में 'दशमस्त्वमसि' को उदाहृत करते हुए विवरण प्रस्थान में शब्दापरोक्षतावाद का अनुपम प्रतिपादन किया गया है। शाब्दविधावेवं वेदान्तेषु निराकृते। अपरे पण्डितम्मन्या विध्यन्तरमिहोचिरे।।

2. नैष्कर्म्यसिद्धि (पृ० 146) एवं बृहदारण्यकभाष्य वार्तिक में द्रष्टव्य
3. पर्वतो वह्निमानिति ज्ञानस्य वह्न्यंश एवानुमितित्वं न पर्वताद्यंशे। तदंशे प्रत्यक्षत्वस्योपपादितत्वात—वेदान्त परिभाषा, पृ० 151, म० म० अनन्तकृष्ण शास्त्री, कलकत्ता विष्वविद्यालय, 1930.
4. परमात्मा तथा जीवात्मा दोनों के ही ब्रह्मस्वरूप होने के कारण जीवात्मा तथा परमात्मा का अभेद सम्भव होता है।
5. हालाँकि उसको पूर्णतः अज्ञात कहना सही नहीं है क्योंकि वह अवेद्य होते हुए भी अपरोक्षव्यवहार का विषय हुआ करता है।
6. फलव्याप्यत्वमेवास्य शस्त्रकृदिभर्निवारितम। ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता।। पंचदशी—790—92.
7. वाचस्पति मिश्र इत्यादि का ऐसा अभिमत बौद्ध नैयायिकों के योगिप्रत्यक्ष अर्थात—'भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तज्ञानम्' की तरह है। बौद्धों के अभिमत में भी भावना प्रकर्ष के कारण भूतार्थ विषयक विकल्पात्मक शाब्दी ज्ञान निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में रूपान्तरित हो जाता है।
8. न च तत्र वाक्यात्पदार्थमात्रोपस्थितौ मानसः संसर्गबोध इति वाच्यम्। सर्वस्मिन्नपि वाक्ये तथा सम्भवेन शब्दप्रमाणमात्रोच्छेदापत्तेः ....अत एवं वाक्यात् परोक्षज्ञानान्तं मानसज्ञानान्तरमेव भ्रमनिवर्तकमित्यपास्तम् .....अन्यथा वाक्यश्रवणात् पूर्वमेव सामाग्रयाः सम्भवेन मनसा चक्षुरादिना वा साक्षात्कारजननप्रसंगात्। वाक्यमपि तत्र सहकारीति चेत् तर्ह्यायातं वाक्यस्यैव प्रामाण्यम्, मनसोऽसाधारणसहकारित्वात्। तस्माच्छब्द एव तत्र साक्षात्कारहेतुम्। वेदान्तकल्पलतिका पृ. 79, गवर्नमेंट सं. पुस्तकालय, बनारस, 1920.
9. यं शब्दबोधमाहाय यस्य बोध्यत्वं, तत्साक्षात्कारार्थ तदभिन्नार्थावगाहित्व—निमित्तकमित्युक्तदोषानवकाशात्। न च एवं प्रत्यक्षान्तर्भावः शब्दस्य स्यादिति वाच्यम्, बोध्यभिन्नार्थकशब्दातिरिक्तित्वे सति प्रत्यक्षप्रमाकरणत्वस्य प्रत्यक्षस्यान्तर्भावे तंत्रत्वात्। अद्वैतसिद्धि—पृ. 877, निर्णय सागर मुद्रणालय 1937.
10. शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोषाप्तवाक्याद व्यवहारतश्च। वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः।। न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, शब्दखण्ड।
11. न्याय भाष्य—1.1.6

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

12. अप्पयदीक्षित–कुवलयानन्द–11, उपमा यत्र सादृश्यलक्ष्मीरुल्लसति द्वयोः। हंसीव कृष्णते कीर्तिं स्वर्गगामवगाहते।।
13. विशेषेऽनुगमाभावः सामान्ये सिद्धसाध्यता। अनुमानपंकभंगेस्मिन्निमग्ना वादिदन्तिनः।। पार्थसारथिमिश्र ने शास्त्रदीपिका (पृ. 63) पर चार्वाक का पूर्वपक्ष उद्धृत करते हुए यह श्लोक उद्धृत किया है।
14. उदयनाचार्य ऐसा अनुमान का आकार मानते हैं। परन्तु परवर्ती नव्यनैयायिक इसको स्वीकार नहीं करते।
15. प्रसिद्ध तर्कशास्त्री इरविंग एम. कोपी ने अवशेषविधि के अन्तर्गत इस घटना को उद्धृत किया है।
16. बृहदारण्यक उप. 4–3–22, तद् यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन नान्तरमेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेदनान्तरम्।
17. अद्वैतवेदान्त सम्मत प्रत्यक्ष के ऐसे स्वरूप की व्याख्या प्रो. नारायण शास्त्री द्रविड ने अपने एक आलेख "प्रत्यक्ष की वेदान्तीय परिभाषा" में सम्यक् रूप से किया है। यह आलेख स्वातन्त्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण–1, "समेकित दार्शनिक विमर्श" (पृ0 329–336) में सम्पादित है। इसी आलेख के उत्तरार्ध को पढ़ते हुए मेरे मन में प्रमाण अपरोक्षतावाद का बीजबोध हुआ था। बाद में श्रद्धेय शास्त्री जी से फोन पर (आकलैंड से) इस सम्बन्ध में बहुत सुझाव एवं समर्थन मुझे प्राप्त हुए थे। मैंने उन सबको अपनी समझ की अनुमत सीमा में इस आलेख में व्यवस्थित किया है। आज स्वर्गीय शास्त्री जी का समर्थन ही मेरे लिए इस प्रतिपादन का प्रामाण्य है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रारम्भिक न्याय में प्रत्यक्ष की अवधारणा

सच्चिदानन्द मिश्र

समस्त प्रमाणों में वरिष्ठ तथा महत्त्वपूर्ण प्रमाण प्रत्यक्ष को माना जाता है। उन दर्शनों के लिए प्रत्यक्ष की अवधारणा कुछ अधिक ही महत्त्वपूर्ण हो जाती है, जो प्रत्यक्ष पर अपने दर्शन की नींव रखने का दावा करते हैं। न्यायदर्शन की स्थिति कुछ ऐसी ही है। न्यायदर्शन एक अनुभववादी दर्शन होने के कारण अन्य समस्त प्रमाणों की अपेक्षा प्रत्यक्ष को अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करता है क्योंकि समस्त प्रमाण किसी न किसी रूप में अन्ततः प्रत्यक्ष पर ही आश्रित होते हैं। उदयनाचार्य एक स्थल पर कहते हैं कि 'सर्वमेव प्रमाणमन्ततः निर्विकल्पकाश्रितम्' समस्त प्रमाण अन्ततः निर्विकल्पक प्रत्यक्ष पर आश्रित हैं। इस परिप्रेक्ष्य में ज्ञानमीमांसीय सन्दर्भ में प्रत्यक्ष की भूमिका निश्चित ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रत्यक्ष के सामान्यतया दो प्रकार माने जाते हैं। विद्वानों में यह तथ्य के रूप में प्रसिद्ध है कि न्यायदर्शन में प्रत्यक्ष के निर्विकल्पक तथा सविकल्पक ये दो भेद स्वीकार किये जाते हैं। परन्तु मैं अपने इस आलेख में यही विचार करने का प्रस्ताव रखना चाहता हूँ कि प्रारम्भिक न्याय में प्रत्यक्ष के ये दो भेद स्वीकृत नहीं हैं। यदि इन दोनों भेदों को स्वीकार न किया जाये तो क्या किसी प्रकार से न्यायदर्शन के पक्ष को व्यवस्थापित किया जा सकता है? ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भिक न्याय में यद्यपि इन दोनों भेदों की स्वीकृति नहीं थी, परन्तु वाचस्पति मिश्र तक पहुँचते–पहुँचते ऐसा महसूस किया गया कि बिना इन दोनों विभागों को स्वीकार किये प्रत्यक्ष की तार्किक तथा व्यवस्थित व्याख्या नहीं की जा सकती।

प्रश्न हो सकता है कि न्यायपरम्परा में प्राचीन न्याय तथा नव्यन्याय ये दो विभाग तो सुप्रसिद्ध हैं, परन्तु प्रारम्भिक न्याय शब्द का प्रयोग कहीं पर भी नहीं प्राप्त होता, फिर किस कारण प्रारम्भिक न्याय शब्द का प्रयोग करते हुए मैं प्रत्यक्ष की अवधारणा की विवेचना करने का प्रयास कर रहा हूँ? इसकी वजह यह है कि प्राचीनन्याय शब्द का प्रयोग उदयनाचार्य तक की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

न्यायपरम्परा के लिए किया जाता है। गङ्गेशोपाध्याय से बाद की न्यायपरम्परा के लिए नव्यन्याय शब्द का प्रयोग किया जाता है। उदयनाचार्य के बाद गङ्गेशोपाध्याय के पूर्व तक के काल को प्राचीनन्याय में रखा जाये या नव्यन्याय में, विद्वानों में इसको लेकर अभी भी विवाद है। प्रस्तुत आलेख में प्रारम्भिक न्याय शब्द का प्रयोग मैं अक्षपाद गौतम से उद्योतकर तक के विद्वानों तथा न्यायपरम्परा के लिए कर रहा हूँ। इसका कारण यह है कि उद्योतकर तक की न्यायपरम्परा में प्रत्यक्ष की जैसी अवधारणा प्राप्त होती है, वाचस्पति मिश्र उसको एक नवीन मोड़ दे देते हैं। प्रत्यक्ष को प्राथमिक रूप में निर्विकल्पक तथा सविकल्पक इन दो विभागों में बाँटने का सर्वप्रथम प्रयास करने का श्रेय वाचस्पति मिश्र को ही जाता है। बाद की पूरी न्यायवैशेषिक परम्परा प्रत्यक्ष के इन दो विभागों को स्वीकार करती हुई चलती है। नव्यन्याय हालाँकि इन दो विभागों को स्वीकार करता है, परन्तु पूरा का पूरा यह विभाग वाचस्पति मिश्र द्वारा प्रस्तावित स्वरूप में स्वीकृत है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। प्रस्तुत आलेख में मैं इस विभेद की ओर दृष्टि नहीं डालूँगा क्योंकि यह कार्य नव्यन्याय की विभिन्न शब्दावलियों का प्रयोग किये बिना कर पाना सम्भव नहीं होगा। प्रारम्भिक न्याय की प्रत्यक्ष की अवधारणा का दार्शनिक विवेचन एक प्रायशः अनवगत तथा अप्रसिद्ध परन्तु ऐतिहासिक एवं दार्शनिक दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण चर्चा का प्रस्ताव होगा, ऐसा लगता है।

प्रारम्भिक न्याय में प्रत्यक्ष की जो अवधारणा प्राप्त होती है, वह अवधारणा अर्वाचीन न्याय की अवधारणा से भिन्न प्रतीत होती है। हम अपनी बात न्यायसूत्र में उपलब्ध प्रत्यक्षलक्षण से प्रारम्भ करेंगे। यहाँ पर ध्येय यह है कि प्रत्यक्षलक्षण का तात्पर्य सीधे–सीधे प्रत्यक्षप्रमाण के लक्षण से नहीं है, अपितु प्रत्यक्षलक्षण का तात्पर्य प्रत्यक्षप्रमा के लक्षण से है। इसका कारण यह है कि प्रमा के करण यानी असाधारण कारण को प्रमाण कहा जाता है। यदि प्रत्यक्षप्रमा का लक्षण कर दिया गया तो उसका करण जो भी होगा उसको ही हम प्रत्यक्ष प्रमाण कहेंगे। न्यायसूत्रकार द्वारा प्रस्तावित प्रत्यक्षप्रमा का लक्षण(?) है– इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्[1] – इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न, अव्यपदेश्य, अव्यभिचारी तथा व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। इस प्रत्यक्ष प्रमा के लक्षण को विश्लेषित किया जाये तो हमें ज्ञात होता है कि प्रत्यक्ष प्रमा के लिए कुछ एक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

शर्तें या विशेषताएँ होनी आवश्यक हैं। वे शर्तें या विशेषताएँ इस प्रकार की प्रतीत होती हैं – प्रत्यक्षात्मक ज्ञान इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है। अव्यपदेश्य होता है, अव्यभिचारी होता है और व्यवसायात्मक होता है।

वाचस्पति मिश्र से लेकर बाद की समूची न्यायपरम्परा इस समग्र सूत्र को प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं मानती। वाचस्पति मिश्र ने अव्यपदेश्य तथा व्यवसायात्मक इन दोनों ही पदों को लक्षणघटक न मानते हुए प्रत्यक्षविभागपरक माना है। परवर्ती समग्र न्यायपरम्परा स्थूल रूप में वाचस्पति मिश्र का ही अनुगमन करती दिखती है। दूसरी तरफ वाचस्पति मिश्र से पूर्व की प्रायशः समूची परम्परा अव्यपदेश्य तथा अव्यभिचारी इन दोनों पदों को भी लक्षणघटक मानते हुए इस समग्र सूत्र को प्रत्यक्ष का लक्षण मानती है। हमारे विचार से ये दोनों ही अवधारणाएँ अतिरंजित प्रतीत होती हैं। वस्तुस्थिति इन दोनों के बीच कहीं है। उसी को समझने का प्रयास इस आलेख के माध्यम से मैं कर रहा हूँ।

कुछ समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में इस विषय पर विचार समुचित होगा। कुछ प्रश्न उभर कर आते हैं, जिनका उत्तर खोजने का यदि हम प्रयास करें तो शायद समस्या की गुत्थी सुलझ जाये। प्रथम प्रश्न ये है– क्या ये पूरा सूत्र प्रत्यक्ष का लक्षण है? इसके अतिरिक्त अन्य प्रश्न भी उठते हैं, परन्तु उन समस्त प्रश्नों में यह प्रश्न प्राथमिक तथा महत्त्वपूर्ण है। न्यायभाष्यकार वात्स्यायन तथा न्यायवार्तिककार उद्योतकर इस समग्र सूत्र को प्रत्यक्ष का लक्षण मानते हैं। इसके विपरीत वाचस्पति मिश्र से लेकर अन्य समस्त परवर्ती नैयायिक अव्यपदेश्य तथा व्यवसायात्मक पदों को प्रत्यक्षविभाग परक मानते हैं। परन्तु यदि समग्र सूत्र ही प्रत्यक्षप्रमा का लक्षण है तो समस्त प्रत्यक्ष प्रमाओं को इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न होने के साथ–साथ अव्यपदेश्य, व्यवसायात्मक तथा अव्यभिचारी होना चाहिए। इसके लिए आवश्यक होगा कि हम प्राथमिक तौर पर इन शब्दों के अर्थों पर विचार लें। प्रथमतः प्राप्त 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न' शब्द का क्या तात्पर्य है? यह न्यायसूत्रों में तथा न्यायभाष्य में बहुत सुस्पष्ट नहीं दिखता। जिस रूप में परवर्ती काल में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के विभिन्न प्रकार स्पष्ट किये गये हैं, यहाँ तक कि छः लौकिक तथा तीन अलौकिक सन्निकर्ष प्रस्तावित किये गये हैं, उसकी मान्यता सूत्रों में सन्दिग्ध या अस्पष्ट ही दिखती है। अव्यपदेश्य का अर्थ है 'जिसका व्यपदेश न किया जा सके'। व्यपदेश का तात्पर्य शब्द से अभिलाप

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है। तो जिसका शब्द से अभिलाप न किया जा सके, दूसरे शब्दों में शब्द के द्वारा अभिलाप किये जाने की योग्यता जिसमें न हो, उसको हम अव्यपदेश्य शब्द के द्वारा कहेंगे। सूत्र में आये हुए दो अन्य पद हैं जिनमें से अव्यभिचारी का तात्पर्य यह है कि जो अपने अर्थ को व्यभिचरित न करे, 'न व्यभिचरति स्वकीयमर्थम्, इति अव्यभिचारि'। व्यवसायात्मक का तात्पर्य है कि जो निश्चयात्मक हो क्योंकि 'व्यवसायो नाम निश्चयः'। इन परिस्थितियों में इस समग्र सूत्र का अर्थ होता है कि ऐसा ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमा कहलायेगा जो कि इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न हो, शब्द के द्वारा जिसका व्यपदेश न किया जा सके, जो अपने विषय को व्यभिचरित न करता हो, तथा निश्चयात्मक हो। अब हमें यह देखना पड़ेगा कि क्या इस समग्र सूत्र को प्रत्यक्ष का लक्षण माना जा सकता है?

इस प्रश्न पर विचार करने पर अनेक दिक्कतें आती हुई दिखती हैं तथा यह सुस्पष्ट सा दिखता है कि इस समग्र सूत्र को हम प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं मान सकते। किसी भी लक्षण के सही होने का प्रमुख आधार हुआ करता है कि वह लक्षण अव्याप्ति, अतिव्याप्ति या असम्भव दोष से मुक्त हो। परन्तु इसके अतिरिक्त भी कुछ शर्तें हैं। उनमें से एक प्रमुख शर्त यह है कि जहाँ तक सम्भव हो लक्षण को संक्षिप्त होना चाहिए। परन्तु इस कसौटी पर यह लक्षण बुरी तरह से असफल सिद्ध होता है।

द्रष्टव्य है कि इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को ही यदि प्रत्यक्ष प्रमा कहें तो कोई असुविधा नहीं दिखती। यदि कोई ज्ञान इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न है तो उस ज्ञान में भ्रान्ति की सम्भावना ही कहाँ है? समस्त प्रत्यक्ष अव्यभिचारी होते हैं तो केवल इसके लिए इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य कहना ही पर्याप्त होगा। इस कारण लक्षण में अव्यभिचारी पद को जोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं दिखती। इसके अतिरिक्त अव्यपदेश्य तथा व्यवसायात्मक पदों को भी लक्षण में जोड़ने का कोई फल नहीं दिखायी देता। संक्षिप्तता को लक्षण की कसौटी के रूप में यदि हम स्वीकार करें तो 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य' अंश ही लक्षण के लिए पर्याप्त होगा। अव्यपदेश्य तथा व्यवसायात्मक इन पदों को लक्षण से तो वाचस्पति मिश्र आदि नैयायिकों ने भी बहिष्कृत कर रखा है तथा प्रत्यक्ष की अव्यभिचारिता उसके इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य होने के कारण ही निगमित हो जा रही है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इसी प्रकार यदि समस्त प्रत्यक्ष अव्यपदेश्य होते हों तो केवल अव्यपदेश्य ही प्रत्यक्ष का लक्षण हो सकता था। जिसका शब्द से अभिलाप न किया जा सके, शब्द के द्वारा अभिलाप किये जाने की योग्यता जिसमें न हो, दूसरे शब्दों में कहें कि जो शब्द से अनुविद्ध नहीं होता है उस ज्ञान को हम प्रत्यक्षप्रमा कहेंगे। इस प्रकार से केवल अव्यपदेश्य अंश को लेकर ही प्रत्यक्षप्रमा की परिभाषा प्रस्तावित की जा सकती थी। ध्येय है कि बौद्ध परम्परा में दिङ्नाग ने केवल कल्पनापोढ ज्ञान को प्रत्यक्ष माना है। दिङ्नाग के अनुसार कल्पनारहित ज्ञानमात्र ही प्रत्यक्ष होता है। ज्ञान का कल्पनारहित होना तथा अव्यपदेश्य होना ये दोनों एक ही चीजें नहीं हैं। नैयायिक यह नहीं मानते कि किसी ज्ञान की अव्यपदेश्यता उसके कल्पनाराहित्य की वजह से है क्योंकि ज्ञान कल्पनासहित होने के कारण ही व्यपदेश्य होता हो ऐसा नहीं है। वस्तुतः कल्पना का ज्ञान के व्यपदेश्य होने से कोई लेना देना नहीं है। दूसरी तरफ बौद्ध दार्शनिक ज्ञान के व्यपदेश्य होने की आवश्यक शर्त के रूप में कल्पना के योग को स्वीकृति देते हैं। बाद में धर्मकीर्ति ने दिङ्नाग के प्रत्यक्षलक्षण में अभ्रान्त पद को जोड़ा है, जो कि अपने आप ही प्रश्नों के घेरे में है। इस प्रकार कल्पनारहित ज्ञान होना ही प्रत्यक्ष की परिभाषा के रूप में बौद्धमत में स्वीकृत है। उसी रीति से न्यायमत में भी अव्यपदेश्य अंश ही प्रत्यक्ष की परिभाषा के लिए पर्याप्त हो सकता था। अतिरिक्त अंशों को जोड़ने की क्या आवश्यकता है ?

इन दोनों ही विकल्पों में व्यवसायात्मक पद एक परिशिष्ट पूँछ की तरह ही लगा दिखेगा, उसके द्वारा किसका व्यावर्तन करना है, इसका भी निर्धारण पूरा का पूरा अस्पष्ट ही है। व्यवसायात्मक पद केवल प्रत्यक्षप्रमा की निश्चयात्मकता को प्रस्तावित करता है, किसी अव्याप्ति, अतिव्याप्ति या असम्भव का निवारण नहीं करता। ध्येय है कि किसी भी लक्षण में किसी ऐसे अंश का योजन, जो कि किसी अतिव्याप्ति, अव्याप्ति या असम्भव का वारक न हो, उचित नहीं कहा जा सकता। इस परिस्थिति में यह समग्र सूत्र प्रत्यक्ष का लक्षण हो सकेगा, ऐसी सम्भावना नहीं दिखती। समस्या यह भी है कि क्या हम इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होनेवाली समस्त प्रत्यक्षप्रमाओं को अव्यपदेश्य, व्यवसायात्मक तथा अव्यभिचारी मान सकते हैं? यदि समस्त सूत्र ही प्रत्यक्ष प्रमा का लक्षण है, तो सूत्रघटक समस्त पदों को किसी न किसी प्रकार से सार्थक होना चाहिए। यानी कि हर एक पद को किसी न किसी अव्याप्ति या अतिव्याप्ति का वारक होना चाहिए, क्योंकि लक्षण का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वही पद सार्थक माना जा सकता है जो कि अव्याप्ति या अतिव्याप्ति का वारक हो। जो पद अव्याप्ति का या अतिव्याप्ति का वारण न कर सके, उसको लक्षण का अविभाज्य अंग नहीं माना जा सकता। ऊपर किये गये विवेचन से यह सुस्पष्ट है कि इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्षप्रमा है, केवल इतना ही प्रमा का लक्षण कर देना पर्याप्त होता। इसी प्रकार द्वितीय विकल्प के रूप में शब्द के द्वारा अभिलाप किये जाने की योग्यता जिसमें न हो, उस ज्ञान को हम प्रत्यक्षप्रमा कह सकते हैं, केवल इतना भी प्रत्यक्षप्रमा का लक्षण हो सकता है। इन दोनों ही विकल्पों में किसी भी पक्ष में व्यवसायात्मक पद की कोई सार्थकता दिखायी नहीं देती। साथ ही साथ अव्यभिचारी पद की भी कोई सार्थकता दिखायी नहीं देती। इस कारण सूत्रकार द्वारा प्रत्यक्षप्रमा के लक्षण के रूप में इस समग्र सूत्र को प्रस्तावित करना अनुचित जान पड़ता है।

वात्स्यायन इन प्रश्नों को गम्भीरता से लेते हैं तथा इन पर विचार करने के बाद कुछ महत्त्वपूर्ण समाधान देते हैं। उनका पक्ष है कि यह समग्र सूत्र ही प्रत्यक्ष का लक्षण है। उनके द्वारा उपर्युक्त आपत्तियों के समाधान निम्न प्रकार से प्रस्तावित किये जाते हैं–

समस्त प्रत्यक्षात्मक अनुभव अव्यभिचारी नहीं होते, इस कारण अव्यभिचारी पद देना आवश्यक है। विभिन्न भ्रान्तियाँ, जो कि प्रत्यक्षात्मक हैं, परन्तु इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न होती हैं, उन भ्रान्तियों का वारण करने के लिए अव्यभिचारी पद देना आवश्यक है। अगर हम अव्यभिचारी पद को लक्षण में न रखें तो भ्रान्तिरूपी प्रत्यक्षों में प्रत्यक्षप्रमा के लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायेगी। इस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ लक्षण में अव्यभिचारी पद को रखना आवश्यक है। वात्स्यायन द्वारा जिस प्रत्यक्षात्मक भ्रान्ति का उदाहरण प्रस्तावित किया गया है, तथा उसको इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न बताया गया है वह उदाहरण है – मरुमरीचिका। ग्रीष्म ऋतु में सूर्य की किरणें पृथिवी की ऊष्मा से संसृष्ट होकर दूरस्थ व्यक्ति को चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा गृहीत होती हैं, तथा उस परिस्थिति में 'यह जल है' ऐसा ज्ञान हुआ करता है। उस ज्ञान में प्रत्यक्षप्रमा का लक्षण अतिव्याप्त हो जायेगा क्योंकि वह ज्ञान भी इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न हो रहा है। इस अतिव्याप्ति का निवारण करने के लिए लक्षण में अव्यभिचारि पद को विशेषण के रूप में रखना आवश्यक है[2]। परन्तु वात्स्यायन की इस व्याख्या को ध्यान पूर्वक विवेचित करना चाहिए।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वात्स्यायन की इस व्याख्या में कहीं से भी किसी अलौकिक सन्निकर्ष को स्वीकार करने की गन्ध नहीं आ रही है। परवर्ती न्यायपरम्परा में इस भ्रमात्मक ज्ञान के विषय जल के साथ ज्ञानलक्षण नामक अलौकिक सन्निकर्ष को व्यवस्थापित करने की प्रवृत्ति देखी जाती है, परन्तु इसका कोई संकेत वात्स्यायन छोड़ते हों, ऐसा नहीं लगता। इस कारण यदि उक्त स्थलीय भ्रमात्मक ज्ञान का विश्लेषण करते हुए उसके विषय को 'इदम' तथा 'जल' इन दो अंशों में बाँटकर दोनों के साथ इन्द्रिय के सन्निकर्ष होने या न होने का प्रश्न उठाया जाये तो यह कहना पड़ेगा कि वस्तुतः 'इदम' के साथ तो चक्षुरिन्द्रिय का सन्निकर्ष है, परन्तु 'जल' के साथ नहीं है। ऐसी परिस्थिति में यह भ्रमात्मक प्रत्यक्ष पूरे तौर से इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न है, इसका व्यवस्थापन कर पाना सम्भव नहीं दिखता क्योंकि विशेषणांश के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष वस्तुतः नहीं हो रहा है। इस कारण अव्यभिचारी पद की सार्थकता किस प्रकार से व्यवस्थापित की जा सकेगी ?

पुनः अव्यपदेश्य पद की सार्थकता का विचार करते हुए वात्स्यायन बताते हैं कि वस्तुतः समस्त प्रत्यक्ष अव्यपदेश्य होते हैं तथापि शब्द से व्यपदिश्यमान ज्ञान में प्रत्यक्षता की भ्रान्ति न हो, इसलिए अव्यपदेश्य कहा गया। आशय यह है कि जिस समय इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष से ज्ञान उत्पन्न होता है, उस काल में शब्द तथा अर्थ के सम्बन्ध का उपयोग नहीं हुआ करता। परन्तु कालान्तर में जब हम उस ज्ञान का सम्प्रेषण करना चाहते हैं तो उसमें शब्द तथा अर्थ के सम्बन्ध का उपयोग हुआ करता है। उदाहरणस्वरूप जब प्रत्यक्षात्मक घटज्ञान होता है तो उस काल में घट शब्द तथा उस घटात्मक अर्थ के सम्बन्ध का कोई उपयोग नहीं हुआ करता। परन्तु जब हम किसी अन्य को बताते हैं तो घट शब्द का प्रयोग करते हैं। इस कारण कहा जा सकता है कि प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञात वस्तु का अभिलाप करने के लिए हम शब्द का तथा शब्द तथा अर्थ के सम्बन्ध का उपयोग किया करते हैं। सारांश के रूप में कहा जा सकता है कि चाहे प्रत्यक्ष ज्ञान हो या चाहे शाब्द ज्ञान हो, दोनों का ही अभिलाप हम समान रूप से ही करते हैं। इस कारण शाब्दज्ञान भी प्रत्यक्षज्ञान के समान हो जाता है। इस कारण अव्यपदेश्य पद को लक्षण में जोड़ा गया।[3]

यहाँ पर भाष्यकार की व्याख्या अत्यन्त दुरूह है। सम्भवतः यह स्थल न्यायभाष्य के सबसे अधिक दुरूह स्थलों में प्रमुख है। न्यायवार्तिककार को भी हम इस समस्या से उलझते हुए पाते हैं। परन्तु अव्यपदेश्यपद के द्वारा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

किसी अव्याप्ति या अतिव्याप्ति का निवारण किस प्रकार से किया जा सकेगा इसका स्पष्टीकरण हमारे सामने किसी भी प्रकार से उभर कर नहीं आ पाता।

इसी तरह व्यवसायात्मक पद को देने की आवश्यकता बताते हुए न्यायभाष्यकार कहते हैं कि इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होनेवाले विभिन्न प्रत्यक्ष संशयात्मक भी होते हैं, उनकी व्यावृत्ति के लिए व्यवसायात्मक पद दिया गया है। इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होनेवाले केवल निश्चयात्मक ज्ञानों में ही लक्षण का समन्वय हो न कि संशयात्मक ज्ञानों में क्योंकि संशयात्मक ज्ञान को प्रत्यक्षप्रमा में अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रमा तो निश्चयात्मक ही हो सकती है। संशयात्मक ज्ञान द्विकोटिक होने के कारण निश्चयात्मक तथा प्रमात्मक नहीं हो सकता।[4]

भाष्यकार द्वारा संशय की व्यावृत्ति के लिए व्यवसायात्मक पद का उपयोग करने से पूर्व इतना विचार और आवश्यक है कि क्या संशय को इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न माना जा सकता है? क्या कहीं ऐसा तो नहीं कि इन्द्रिय से विषय का अवधारण होने के उपरान्त मन से संशय होता हो? ऐसी परिस्थिति में समस्त संशय मानस ही होंगे। यदि ऐसा हो तो संशय के इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न ही नहीं होने के कारण प्रत्यक्षलक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो सकती फिर व्यवसायात्मक पद का उपयोग समुचित नहीं दिखता। इस प्रश्न पर वात्स्यायन स्वयं ही विचार करते हैं तथा निर्णय के रूप में निर्धारित करते हैं कि ऐसा नहीं समझना चाहिए कि जितने भी संशय होते हैं वे मानस संशय ही होते हैं, अपितु व्यक्ति चक्षु से ही विषय को देखता हुआ उसे अभ्रान्ततया अवधारित नहीं कर पाता है। इस कारण अनेक संशय ऐसे हैं जिनको कि मानस संशय में नहीं गिना जा सकता।[5] अनेक संशय ऐसे भी होते हैं जहाँ पर व्यक्ति इन्द्रिय से वस्तु का अवधारण नहीं कर पा रहा होता है। इस प्रकार इन्द्रियानवधारणपूर्वक जो संशय होते हैं, उन संशयों में प्रत्यक्षलक्षण की अतिव्याप्ति न हो इस कारण व्यवसायात्मक पद देना चाहिए। परन्तु भाष्यकार द्वारा किया गया यह प्रयास भी सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता क्योंकि लक्षण के अंश के रूप में हम पहले ही अव्यभिचारी पद को जोड़ चुके हैं। संशयात्मक ज्ञान निश्चित रूप से व्यभिचारी ही होगा। संशय की दो कोटियाँ होती हैं, तथा उसकी एक कोटि निश्चित रूप में व्यभिचरित होगी। इस कारण अव्यभिचारी पद से ही संशय की व्यावृत्ति सम्भव है, उसके लिए अलग से व्यवसायात्मक विशेषण देने की कोई आवश्यकता नहीं है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भाष्यकार द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुगमन करते हुए न्यायवार्तिक के लेखक उद्योतकर भी इस सूत्र की व्याख्या करते हैं। न्यायवार्तिककार इस प्रश्न पर गम्भीरता से विचार करते हैं कि क्या सूत्रघटक समस्त पदों को ही प्रत्यक्ष के लक्षण में रखना चाहिए या नहीं? दूसरे शब्दों में क्या पूरा का पूरा सूत्र ही प्रत्यक्ष का लक्षण है या आंशिक सूत्र प्रत्यक्ष का लक्षण है? दोनों प्रकार के सूत्र प्राप्त होते हैं।[6] कुछ एक सूत्र पूरे के पूरे लेने पर ही लक्षण का कार्य कर पाते हैं, कुछ एक सूत्रों का अंश मात्र ही लक्षण का कार्य करता है। उद्योतकर के अनुसार इस सूत्र के घटक समस्त पदों को प्रत्यक्ष के लक्षण में रखना आवश्यक है क्योंकि किसी भी अंश को हम छोड़ नहीं सकते। किसी को भी छोड़ देने पर लक्षण में कोई न कोई दोष आयेगा। एक एक पदों को यदि हम हटा दें तो अनुमान, सुख, शाब्दज्ञान, विपर्यय तथा संशयात्मक ज्ञानों में प्रत्यक्षलक्षण की अतिव्याप्ति होगी।[7] परन्तु न्यायवार्तिककार ने समस्या को सुलझाने के बजाय और उलझा दिया, क्योंकि उन समस्याओं तथा दोषों का परिहार अन्य प्रकारों से भी सम्भव है। न्यायवार्तिककार द्वारा प्रस्तावित समाधानों के परिप्रेक्ष्य में भी इन समस्त अंशों को तो लक्षण के अंश के रूप में रखने की आवश्यकता कतई नहीं दिखती। संक्षेप में न्यायवार्तिककार द्वारा प्रस्तावित उपयोग निम्नलिखित हैं –

यदि ज्ञान पद न दें तो विभिन्न सुख–दुःख, इच्छा आदि भी इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से जन्य होते हैं, इसलिए उनमें प्रत्यक्षलक्षण की अतिव्याप्ति होगी।[8] यदि ज्ञान पद न दें तो सुख–दुःखादि के इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य होने के कारण उनमें अतिव्याप्ति की आशङ्का व्यक्त की जा रही है, परन्तु वह आशङ्का है नहीं क्योंकि यदि ज्ञान पद को लक्षण में न रखें तो भी प्रत्यक्षलक्षण की अतिव्याप्ति सुख–दुःखादि में होने की सम्भावना नहीं दिखायी देती। सुख–दुःख आदि कभी भी व्यभिचारी नहीं होते। ऐसा नहीं हो सकता है कि सुख या दुःख नहीं रहें परन्तु हमें फिर भी सुख–दुःखादि का अनुभव हो। हमने लक्षण में अव्यभिचारी पद को भी जोड़ा है, सुख–दुःख आदि चूँकि अव्यभिचारी नहीं हैं, इस कारण उनमें प्रत्यक्षलक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी।

अथवा उन सुख–दुःखादि के व्यवसायात्मक न होने के कारण उनमें प्रत्यक्षलक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी। हम यह तो नहीं कह सकते हैं कि सुख–दुःखादि निश्चयात्मक हैं क्योंकि निश्चयात्मक होना तो ज्ञान का ही धर्म हो सकता है, सुख–दुःखादि का नहीं। इस कारण ज्ञान पद को लक्षण के अंश के रूप में रखना किसी भी प्रकार से अनिवार्य नहीं दिखता।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पुनः अगर इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न अंश को लक्षण में न रखा जाये तो अनुमानात्मक ज्ञान (प्रमा) में लक्षण का समन्वय हो जायेगा। अतः अनुमान की व्यावृत्ति के लिए इन्द्रियार्थसन्निकर्ष पद लक्षण में दिया गया है। उद्योतकर का यह कथन सङ्गत हो सकता है यदि अनुमितिरूप प्रमात्मक ज्ञान अव्यपदेश्य, व्यवसायात्मक तथा अव्यभिचारी होता हो। वस्तुतः स्थिति ऐसी ही है। न्यायवार्तिककार अपना पक्ष इसी रूप में प्रस्तावित करते हैं कि इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न अंश को लक्षण में रखने के कारण अनुमितिरूप प्रमा में प्रत्यक्षलक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती है।

प्रत्यक्षात्मक भ्रान्ति की व्यावृत्ति के लिए अव्यभिचारी पद दिया गया है। यहाँ पर उद्योतकर सीधे–सीधे वात्स्यायन का अनुगमन करते हुए दिखायी देते हैं। वात्स्यायन भी प्रत्यक्षभ्रम की व्यावृत्ति करने के लिए अव्यभिचारी पद जोड़ने की वकालत करते हैं। परन्तु विचित्रता यह है कि प्रत्यक्षभ्रम किस प्रकार से इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न कहलायेगा? इस पर कोई विशेष ध्यान न्यायवार्तिककार उद्योतकर नहीं देते। जबकि संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय तथा विशेषणविशेष्यभाव के रूप में इन्द्रिय तथा अर्थ के मध्य सन्निकर्ष को व्याख्यायित तथा विवेचित करने का काम इदंप्रथमतया उद्योतकर ने ही किया है। उद्योतकर द्वारा इन छः प्रकार के सन्निकर्षों के आलोक में यह मुश्किल दिखता है कि किस प्रकार से विशेषण तथा विशेष्य दोनों ही विषयों के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष सम्भव हो सकेगा? उक्त भ्रम इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न किस प्रकार से हो सकेगा, इसको बिना बताये उद्योतकर इतना अवश्य बताते हैं कि भ्रमस्थल में (मृगमरीचिका के स्थल में) सूर्य की किरणों को ही इन्द्रियदोष के कारण इन्द्रियों के द्वारा आलोचित करने के बाद द्रष्टा भ्रान्त होता है।[9] उक्त स्थलों में ज्ञान का व्यभिचारित्व है, अर्थ का व्यभिचारित्व नहीं है।

संशय की व्यावृत्ति के लिए व्यवसायात्मक पद दिया गया है। व्यवसायात्मक का अर्थ है निश्चयात्मक। संशय की इस कारण व्यावृत्ति हो जायेगी। परन्तु संशयव्यावृत्ति के लिए व्यवसायात्मक पद न देने पर भी अव्यभिचारी पद से ही क्या उसकी व्यावृत्ति नहीं हो जायेगी? इस प्रश्न पर उद्योतकर विचार भी नहीं करते। जयन्त भट्ट का काल निश्चित तौर पर उद्योतकर से बाद आता है। परन्तु उनका काल वाचस्पति मिश्र से पहले आता है या बाद में यह सन्दिग्ध है। इस सन्देह के पर्याप्त कारण हैं। इन्होंने भी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रत्यक्ष के निर्विकल्पक तथा सविकल्पक इन दो भेदों की चर्चा की है, तथा वे सिद्धान्ततः समस्त सूत्र को प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं मानते हैं। परन्तु उन्होंने इस विकल्प पर भी विस्तार से विचार किया है कि क्या समस्त सूत्र प्रत्यक्ष का लक्षण है। अनेक आचार्यों का नामोल्लेख करते हुए, मुख्यतया रुचिकार तथा प्रवर का उल्लेख करते हुए, इन्होंने विस्तार से यह विवेचित करने का प्रयास किया है कि समग्र सूत्र प्रत्यक्ष का लक्षण किस प्रकार से हो सकता है। जयन्त भट्ट अपने निष्पक्ष विवेचन में यह पाते हैं कि वस्तुतः अव्यभिचारी पद से ही संशय की व्यावृत्ति सम्भव है परन्तु संशय तथा विपरीत निश्चय दोनों में एक स्वरूपगत भेद है, तथा दोनों के कारण अलग–अलग हैं, इस कारण उनकी व्यावृत्ति करने के लिए एक–एक अतिरिक्त पद देने की आवश्यकता होती है।[10]

शब्दजन्यज्ञान की व्यावृत्ति के लिए (शब्दोत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष के लक्षण के द्वारा सङ्गृहीत न हो इसके लिए) अव्यपदेश्य पद को प्रत्यक्ष के लक्षण में रखना चाहिए, ऐसा वात्स्यायन तथा उद्योतकर दोनों का मन्तव्य है। परन्तु शाब्दज्ञान में क्या प्रत्यक्षलक्षण की अन्य शर्तें लागू होती हैं? यदि इसका उत्तर सकारात्मक हो, तब तो उस प्रत्यक्षलक्षण में अव्यपदेश्य अंश को शाब्दज्ञान की व्यावृत्ति के लिए जोड़ा जाये ? परन्तु यदि ऐसा नहीं है तो उसको जोड़ना एकदम ही व्यर्थ दिखता है। प्रत्यक्षलक्षण में इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य पद जोड़ा गया है, परन्तु शाब्दज्ञान इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य नहीं होता है। इस कारण शाब्दज्ञान के इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य न होने के कारण ही शाब्दज्ञान की व्यावृत्ति सम्भव है। सामान्य परिस्थिति में तो ऐसा ही लगता है कि शाब्दज्ञान के लिए इन्द्रियार्थसन्निकर्ष की कोई आवश्यकता नहीं है। शाब्दज्ञान तो शब्द से जन्य होता है, उसमें इन्द्रियार्थसन्निकर्ष का क्या काम? उद्योतकर इस विषय में कोई संकेत नहीं देते। वात्स्यायन का इस स्थल में प्राप्त भाष्य तो अपने आपमें दुरुह ही है। न्यायमंजरी के लेखक जयन्त भट्ट इस विषय में कुछ स्पष्ट संकेत देते हैं। सामान्यतया भले ही कोई शाब्दज्ञान इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य न होता हो, परन्तु ऐसी परिस्थिति अवश्य हो सकती है जिसमें कोई शाब्दज्ञान वस्तुतः सांयोगिक रूप से इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य हो रहा हो। जैसे कोई व्यक्ति किसी वृक्षविशेष को देख रहा है, परन्तु जानता नहीं है कि वह वृक्षविशेष कौन सा है? सामनेवाला व्यक्ति कहता है कि 'यह कटहल है'। इस वाक्य को सुनने के उपरान्त श्रोता को जो ज्ञान हो रहा है, उस ज्ञान को

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हम किस वर्ग में रखें? उसको शाब्दज्ञान मानें या प्रत्यक्षज्ञान? निश्चित ही यह ज्ञान बिना शब्दव्यापार के नहीं हो सकता, परन्तु इन्द्रिय भी इस ज्ञान के प्रति कारण होती अवश्य है। जयन्त भट्ट ने इस प्रसङ्ग में दो आचार्यों के मतों का उल्लेख किया है–रुचिकार तथा प्रवर का। रुचिकार ने न्यायवार्तिक पर कोई टीका लिखी थी, ऐसा जयन्त भट्ट के कथन से ही पता चलता है। रुचिकार के अनुसार इस प्रकार शब्द तथा इन्द्रिय दोनों से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान को शाब्द ज्ञान यानी शब्दजन्य शाब्दबोधात्मक ज्ञान की श्रेणी में रखना ही उचित है क्योंकि शब्द के बिना उस प्रकार का ज्ञान हो पाना सम्भव नहीं था। अब यदि सूत्र में अव्यपदेश्य पद को न रखा जाये तो इस प्रकार के परिस्थितिवश इन्द्रिय तथा शब्द दोनों से उत्पन्न होनेवाले शाब्दज्ञानों में इस प्रत्यक्षलक्षण की अतिव्याप्ति हो जायेगी। इस अतिव्याप्ति का निवारण करने के लिए इस सूत्र में अव्यपदेश्य पद को रखना चाहिए।[11] चूँकि उपर्युक्त परिस्थिति में उत्पन्न होनेवाला ज्ञान व्यपदेश्य है, शब्द के द्वारा उसका व्यपदेश किया जा रहा है, इस कारण उसमें प्रत्यक्षलक्षण की अतिव्याप्ति सूत्र में अव्यपदेश्य पद का संयोजन कर देने से वारित हो जाती है। इस प्रकार रुचिकार के मतानुसार सूत्रघटक अव्यपदेश्य पद सार्थक हो जाता है।

दूसरी ओर प्रवर हैं। इनके विषय में भी न्यायमंजरी के द्वारा ही हमें सूचना प्राप्त होती है कि इन्होंने वात्स्यायन के न्यायभाष्य पर कोई विवरण नामक व्याख्या लिखी थी। आज इनका भी कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। प्रवर का कहना है कि रुचिकार का यह पक्ष अनुचित तथा अयुक्तिसङ्गत है। कोई प्रमाण में अन्तर्भूत हो रहा हो तो उसके बारे में पूछना समुचित होगा कि किस प्रमाण में अन्तर्भूत होगा। परन्तु यहाँ पर इन्द्रिय तथा शब्द से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान को हम उस प्रकार से प्रमा में अन्तर्भूत नहीं कर सकते। इसका कारण यह है कि इस परिस्थिति में हमारे सामने दो विकल्प हैं–या तो हम इस ज्ञान को प्रत्यंक्ष प्रमाण से उत्पन्न मानें या तो शब्द प्रमाण से उत्पन्न मानें। शाब्दबोधात्मक ज्ञान शब्दप्रमाण से उत्पन्न होते हैं, उसमें इन्द्रियार्थसन्निकर्ष का उपयोग नहीं हुआ करता। इस ज्ञान में तो इन्द्रियार्थसन्निकर्ष का उपयोग हो रहा है, इस कारण इस ज्ञान को शाब्दबोधात्मक या शब्दप्रमाण से उत्पन्न नहीं माना जा सकता। दूसरी ओर प्रत्यक्षप्रमा इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न होती है, उसमें शब्द का उपयोग नहीं होता। यह कैसा विचित्र किस्म का नरसिंहाकार ज्ञान है जो कि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष तथा शब्द दोनों के उपयोग से उत्पन्न हो रहा है। इसको तो कोई पाँचवाँ प्रमाण मानना

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

चाहिए। रुचिकार इस ज्ञान को शब्दप्रमाण से जन्य मानने में युक्ति देते हैं कि उपर्युक्त परिस्थिति में अगर कोई पूछे कि तुमको यह कैसे पता चला? तो लोग उत्तर देते हैं कि देवदत्त ने कहा या जिस व्यक्ति ने बताया होता है, उसका नाम लेकर कहते हैं कि उसने कहा है। इससे पता चलता है कि शब्द प्रमाण से वह बोध उत्पन्न हुआ था, अन्यथा लोग यही बोलते कि मैंने स्वयं देखा है। इस प्रकार लोगों के व्यवहार से ही पता चलता है कि उपर्युक्त परिस्थिति में होनेवाला ज्ञान शब्दप्रमाण से उत्पन्न होता है। इसके उत्तर में प्रवर का कहना है कि लोगों के कथनानुसार सारी वस्तुस्थितियाँ नहीं होतीं। लोग तो कुछ भी कह देते हैं। वस्तुस्थिति तक पहुँचने के लिए हमें निष्पक्ष विवेचना करनी पड़ेगी। निष्पक्ष विवेचना से तो यही पता चलता है कि इस प्रकार का ज्ञान इन्द्रिय के रहने पर ही सम्भव हो पाता है तथा इन्द्रिय के न रहने पर सम्भव नहीं हो पाता है। अतः इस ज्ञान को प्रत्यक्ष में ही अन्तर्भूत करना चाहिए। ऐसी परिस्थिति में अव्यपदेश्य पद का उपयोग इस प्रकार के ज्ञानों में प्रत्यक्षलक्षण की अतिव्याप्ति का वारण करने के लिए नहीं किया जा सकता जो ज्ञान इन्द्रिय तथा शब्द दोनों के द्वारा उत्पन्न हो रहे हों। इस पद का उपयोग कुछ और ही होना चाहिए।[12]

प्रवर इस अव्यपदेश्य पद का उपयोग बताते हैं कि वस्तुतः इस पद का लक्षण में अन्तर्भाव इसलिए किया गया है कि असम्भव दोष न हो। असम्भव दोष का वारण करना लक्षण में इस पद को जोड़ने का प्रयोजन है। असल में वैयाकरणों का एक मत है जो यह कहता है कि कोई भी ऐसा ज्ञान है ही नहीं जो कि शब्द से अनुविद्ध न हो। हर एक ज्ञान शब्द से अनुविद्ध होता है। इसका निहितार्थ इसमें आता है कि समस्त ज्ञान शाब्दी प्रमा में अन्तर्भूत हो जायेंगे, कोई भी ज्ञान ऐसा शेष नहीं बचेगा जो प्रत्यक्षात्मक हो। ये जो भी 'अयं गौः' इत्यादि ज्ञान हैं वे शब्द से अवच्छिन्न वाच्य को विषय करते हैं, इस कारण वे समस्त ज्ञान शाब्द ज्ञान हैं, प्रत्यक्षात्मक ज्ञान नहीं। यह ज्ञान इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न नहीं हो सकता क्योंकि इस ज्ञान में विशेषण के रूप में आ रहा है शब्द। उस शब्द को बोधित कराने की सामर्थ्य इन्द्रिय में है ही नहीं। हर एक शब्दानुसन्धान से सहित ही होगा। इन्द्रियार्थसन्निकर्ष की सामर्थ्य नहीं है कि वह शब्दानुसन्धान से सहित प्रत्यय को उत्पन्न करा दे। इस कारण प्रत्यक्षलक्षण असम्भव दोष से ग्रस्त हो जायेगा। इस कारण इस असम्भव का वारण करने के लिए अव्यपदेश्य शब्द का लक्षण में परिग्रहण किया गया है। जो यह ज्ञान उस व्यक्ति को

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उत्पन्न होता है जिसको पद तथा अर्थ के सम्बन्ध का ज्ञान नहीं है, अथवा प्रथम इन्द्रियसन्निपात के काल में जो पद तथा अर्थ के सम्बन्ध को जाननेवाले व्यक्ति को ज्ञान उत्पन्न होता है, वह शब्द का उल्लेख नहीं करता, अपितु शब्द स्मरण का कारण बनता है। ऐसा जो ज्ञान है वह अशाब्द है, शब्दानुवेधशून्य है, वही प्रत्यक्ष है क्योंकि उसके प्रति कारण हुआ करता है इन्द्रियार्थसन्निकर्ष। इस प्रकार असम्भव दोष का वारण करने के लिए हमको इस प्रत्यक्षलक्षणसूत्र में अव्यपदेश्यपद को रखना चाहिए।[13] इस प्रकार प्रवर के अनुसार प्रत्यक्षप्रमा इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य, शब्दानुवेधशून्य, अव्यभिचारी तथा व्यवसायात्मक हुआ करती है।

परन्तु इस पक्ष, जिसको जयन्त भट्ट प्रवरपक्ष कहकर उद्धृत करते हैं, के अनुसार क्या अव्यपदेश्यपद से ही संशय तथा विपरीत ज्ञान यानी प्रात्यक्षिक भ्रम की निवृत्ति नहीं हो जायेगी? क्या यह माना जा सकता है कि निर्विकल्पकात्मक संशय तथा निर्विकल्पकात्मक प्रत्यक्षभ्रम हो सकेंगे? यह ध्येय है कि प्रवर के अनुसार प्रत्यक्षमात्र इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य तथा शब्दानुवेध–शून्य होता है। तो क्या इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य तथा शब्दानुवेधशून्य प्रत्यक्ष सम्भव है जो कि भ्रमात्मक हो या संशयात्मक हो? यदि नहीं, तो प्रवरपक्ष में अव्यभिचारी तथा व्यवसायात्मक इन दोनों ही पदों का निक्षेप निरर्थक होगा। जयन्त भट्ट इसका समाधान देते हैं कि वस्तुतः प्रवरपक्ष में संशय तथा प्रात्यक्षिक भ्रम दोनों ही इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य तथा शब्दानुवेधशून्य होते हैं। इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य तथा शब्दानुवेधशून्य होना प्रत्यक्ष के निश्चयात्मक तथा प्रमात्मक होने की गारंटी नहीं ले सकते। सन्देह के उत्पन्न हो जाने के उपरान्त शब्द का स्मरण होकर सन्देह में शब्दानुवेध होता है, ऐसा नहीं है कि शब्दानुवेधपूर्वक ही सन्देह या प्रात्यक्षिक भ्रम उत्पन्न होते हैं।

न्यायवार्तिक के लेखक उद्योतकर ने किन्हीं अन्य आचार्यों के अनुसार अव्यपदेश्य पद के द्वारा अनुमिति का वारण करना अपेक्षणीय है, उद्योतकर ने एक अन्य सम्भावना की भी चर्चा की है। इस मत को 'अपरे तु' इस प्रतीक से उद्योतकर ने उद्धृत किया है। इन सम्प्रदायैकदेशियों का मत यह है कि अनुमान की व्यावृत्ति करने के लिए अव्यपदेश्य पद दिया गया है, अनुमान व्यपदेश्य होता है, परन्तु प्रत्यक्ष व्यपदेश्य नहीं होता। इस कारण अनुमान की व्यावृत्ति के लिए इस प्रत्यक्षलक्षण में अव्यपदेश्य पद को जोड़ा गया है। परन्तु इस सम्भावना को केवल एक पंक्ति में उपस्थापित करके उद्योतकर खारिज कर देते हैं क्योंकि प्रत्यक्षलक्षणसूत्र में इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अंश को भी रखा गया है और इन्द्रिय का अर्थ के साथ सन्निकर्ष होने से अनुमान नहीं होता है। इस प्रसंग में हमें यह विचारणीय लगता है कि बौद्धदर्शन से सम्भवतः प्रभावित रहनेवाले किसी नैयायिक के द्वारा ऐसा प्रस्ताव दिया गया होगा। बौद्धदर्शन में प्रत्यक्ष कल्पनारहित तथा अनुमान कल्पनासहित होता है। सम्भवतः उसी आदर्श पर किसी न्याय के आचार्य के द्वारा प्रत्यक्ष को अव्यपदेश्य तथा अनुमान को व्यपदेश्य मानने का पक्ष प्रस्तावित किया गया होगा।

न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका के लेखक वाचस्पति मिश्र न्यायवार्तिक की इन पङ्क्तियों की व्याख्या करते हुए इस विचार को थोड़ा आगे तक बढ़ाते हैं। वाचस्पति मिश्र का कथन है कि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को हेतु बनाकर इन्द्रिय की गति का अनुमान किया जाता है। हमारी चक्षुरिन्द्रिय यदि दूरदेश में विद्यमान सूर्य–चन्द्र आदि का प्रत्यक्षीकरण करती है, साथ ही साथ यह भी निश्चित है कि बिना इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के दूरदेश में विद्यमान सूर्य–चन्द्र आदि का प्रत्यक्षीकरण सम्भव नहीं है। इसके साथ ही यह निर्धारित ही है कि दूरदेश में विद्यमान सूर्य–चन्द्र आदि से इन्द्रिय का सन्निकर्ष तब तक सम्भव नहीं है, जब तक कि हमारी इन्द्रियों में दूर देश तक जाने के लिए गति न हो। इस प्रकार हम इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को हेतु बनाकर इन्द्रिय की गति का अनुमान करते हैं। इस तरह अनुमान में हेतु के रूप में आया इन्द्रियार्थसन्निकर्ष। इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के हेतु बनने के कारण यह अनुमान इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से जन्य हो जाता है क्योंकि अनुमान हेतु से जन्य होता है। प्राचीन नैयायिकों की ऐसी मान्यता थी कि अनुमान हेतु से जन्य होता है। वाचस्पति मिश्र भी उन प्राचीन नैयायिकों में से ही एक हैं। इस सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को हेतु बनाकर इन्द्रिय की गति का अनुमान करने की स्थिति में वह अनुमान इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के हेतु बनने के कारण इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य हो जा रहा है। इस कारण प्रत्यक्ष के लक्षण की अतिव्याप्ति इस अनुमान में होने लगेगी। इस अतिव्याप्ति का निवारण करने के लिए अव्यपदेश्य पद दिया गया। अनुमान के व्यपदेश्य होने के कारण प्रकारान्तर से इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य होने पर भी प्रत्यक्षलक्षण की अतिव्याप्ति उसमें नहीं होती।

इन सारे विवेचनों से ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रत्यक्षसूत्र का अव्यपदेश्य पद प्रत्यक्षलक्षण को समझने के लिए सबसे बड़ी पहेली है। एक दूसरी बात मुझे लगती है कि ये समस्त आचार्यगण इस प्रत्यक्षलक्षण की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पहेली को सुलझाने का प्रयास केवल एक ही दृष्टि से कर रहे हैं। न्याय के इन समस्त आचार्यों (वाचस्पति मिश्र के पहले के आचार्यों या यह कहें कि जयन्त भट्ट के पहले के आचार्यों) ने प्राथमिक तौर पर यह मान लिया कि यह पूरा का पूरा सूत्र ही प्रत्यक्ष का लक्षण है। मुझे ऐसा लगता है कि शायद सूत्रकार की दृष्टि में पूरा का पूरा सूत्र प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं था। सम्भवतः सूत्रकार लक्षण के रूप में यह बताना चाह रहे थे कि प्रत्यक्ष इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न होता है। अव्यपदेश्य, व्यवसायात्मक तथा अव्यभिचारी पदों के द्वारा उस प्रत्यक्ष का स्वरूप बताना उनको अपेक्षित था। लक्षण तथा स्वरूप दोनों का कथन ही आवश्यक है। अव्यपदेश्य पद की जैसी व्याख्या वात्स्यायन ने की है, उससे भी ऐसा नहीं लगता कि यह पद किसी अव्याप्ति, अतिव्याप्ति या असम्भव का वारण करने के लिए सूत्र में शामिल किया गया है। सम्भवतः प्रवर का पक्ष भी इसी ओर सङ्केत कर रहा है।

मुझे लगता है कि बौद्ध दर्शन की प्रत्यक्ष की अवधारणा के समानान्तर इस बात को देखने का प्रयास करना शायद अधिक सङ्गत होगा। गौतमीय न्यायसूत्र के आलोक में अव्यपदेश्य का अर्थ है शब्द से अभिलाप के अयोग्य। न्यायसूत्रकार प्रत्यक्ष को अव्यपदेश्य मानते हैं साथ ही उपर्युक्त व्याख्या के आलोक में यदि हम देखें तो गौतम के अनुसार प्रत्यक्ष अव्यभिचारी तथा निश्चयात्मक होता है। दिङ्नाग प्रत्यक्ष को कल्पनापोढ मानते हैं । कल्पनापोढ का भी अर्थ निष्कर्ष के रूप में यही आता है कि शब्द से अभिलाप के अयोग्य। प्रत्यक्ष अभ्रान्त होता है, साथ ही संशयात्मक नहीं होता। इन परिप्रेक्ष्यों में गौतमीय न्यायसूत्रानुसारी प्रत्यक्षलक्षण दिङ्नागानुसारी प्रत्यक्षलक्षण के प्रायशः तुल्य ही (परन्तु समग्रता में नहीं) दिखता है। दिङ्नाग के अनुसार प्रत्यक्ष शब्द के द्वारा अभिलाप के योग्य इस कारण नहीं है क्योंकि शब्द के द्वारा अभिलाप करने के क्रम में कल्पना का प्रवेश हो जाता है, इस कारण प्रत्यक्ष कल्पनापोढ है। इसके समानान्तर प्रारम्भिक न्याय के अनुसार प्रत्यक्ष का शब्द से अभिलाप कालान्तर में यानी व्यवहार के काल सम्भव है। प्रत्यक्ष उत्पत्ति के काल में यद्यपि शब्दानुवेध से शून्य होता है, इसी कारण उसको अव्यपदेश्य कहा जाता है। परन्तु व्यवहारकाल में तो उसका शब्द से अभिलाप करने में कोई असुविधा नहीं है। शायद शुरुआती दौर में न्याय तथा बौद्ध दोनों के प्रत्यक्ष के लक्षण में मुख्य विभेद मात्र इतना ही रहा कि बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार प्रत्यक्ष स्वभावतः

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

निर्विकल्पकात्मक ही होता है, उस प्रत्यक्ष को निश्चयात्मक नहीं कहा जा सकता क्योंकि निश्चय होने के क्रम में उसमें कल्पना का समावेश हो जाता है। इसी कारण प्रत्यक्ष के दो विषय हैं एक ज्ञेय तथा द्वितीय अध्यवसेय। ऐसा बौद्ध दार्शनिक कहते हैं। इसके विपरीत प्रारम्भिक नैयायिकों के अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्यक्ष को निश्चयात्मक होने के लिए उसमें कल्पना का समावेश किसी भी तरह से आवश्यक नहीं है। इसी कारण अव्यपदेश्य प्रत्यक्ष भी निश्चयात्मक हो सकता है। न्यायवार्तिककार के कुछ पूर्व तथा विशेष कर उनके बाद के बौद्ध आचार्यों के आक्षेपों के मद्देनजर मुझे ऐसा लगता है कि त्रिलोचन तथा उनका अनुसरण करते हुए वाचस्पति मिश्र ने न्यायपक्ष की रक्षा करने के लिए प्रत्यक्ष के निर्विकल्पक तथा सविकल्पक इन दो विभागों को स्वीकार करने का पक्ष अधिक युक्तिसङ्गत पाया। जयन्त भट्ट ने भी अपने ग्रन्थ न्यायमंजरी में प्रत्यक्ष के इन दोनों भेदों को स्वीकृति प्रदान की है।

ध्येय है कि बौद्ध परम्परा में भी ये दोनों भेद स्वीकार किये गये हैं। अन्तर मात्र इतना है कि सविकल्पक को वे प्रत्यक्ष प्रमा के रूप में मान्यता नहीं देते। सविकल्पक का अर्थ होता है विकल्प से सहित। परन्तु विकल्प का अर्थ क्या है? बौद्ध दर्शन में कल्पना तथा विकल्प इन दोनों शब्दों का पर्याय के रूप में प्रयोग किया गया है। इस कारण सविकल्पक का अर्थ होता है कल्पना से युक्त, ऐसा ज्ञान जिसमें कल्पना का योगदान हो। बौद्धों का मन्तव्य यह है कि जब तक ज्ञान की प्रक्रिया में हमारी कल्पना का योगदान नहीं होता तब तक उस ज्ञान में शब्दाभिलापयोग्यता नहीं आ पाती। इसके विपरीत परवर्ती नैयायिकों के अनुसार विकल्प शब्द का अर्थ प्रकार या विशेषण है। जब हम किसी को विशेषण के रूप में तथा किसी को विशेष्य के रूप में जानते हैं तभी उसमें शब्दाभिलापयोग्यता आ पाती है। इसके लिए किसी कल्पना की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार न्यायशास्त्रीय ज्ञानमीमांसा के विकास में यह एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु है जहाँ से न्यायशास्त्रीय ज्ञानमीमांसा एक बहुत महत्त्वपूर्ण तथा अलग किस्म का मोड़ ले लेती है।

दर्शन एवं धर्म विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी - 221005

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणी –

1. न्यायसूत्र 1.1.4
2. ग्रीष्मे मरीचयो भौमेनोष्मणा संसृष्टाः स्पन्दमाना दूरस्थस्य चक्षुषा सन्निकृष्यन्ते, तत्रेन्द्रियार्थसन्निकर्षाद् उदकमिदमिति ज्ञानमुत्पद्यते तच्च प्रत्यक्षं प्रसज्यते इत्यत आह–अव्यभिचारीति। न्यायभाष्य 1.1.4
3. यावदर्थं वै नामधेयशब्दास्तैरर्थसम्प्रत्ययोऽर्थसम्प्रत्ययाच्च व्यवहारः। तत्रेदमिदमिन्द्रियार्थसन्निकर्षादुत्पन्नमर्थज्ञानं रूपमिति वा रस इति वा भवति, रूपरससशब्दाश्च विषयनामधेयं तेन व्यपदिश्यते ज्ञानम्–रूपमिति जानीते, रस इति जानीते। नामधेयशब्देन व्यपदिश्यमानं सत् शाब्दं प्रसज्यते अत आह–अव्यपदेश्यमिति। यदिदमनुपयुक्ते शब्दार्थसम्बन्धेऽर्थज्ञानं तद् नामधेयशब्देन व्ययपदिश्यते। गृहीतेऽपि च शब्दार्थसम्बन्धे 'अस्यार्थस्यायं शब्दो नामधेयम्' इति। यदा तु सोऽर्थो गृह्यते तदा तत् पूर्वस्मादर्थज्ञानान्न विशिष्यते तदर्थविज्ञानं तादृगेव भवति।.....तदेवमर्थज्ञानकाले स न समाख्याशब्दो व्याप्रियते व्यवहारकाले तु व्याप्रियते, तस्मादशाब्दमर्थज्ञानमिन्द्रयार्थसन्निकर्षोत्पन्नमिति। न्यायभाष्य 1.1.4
4. दूराच्चक्षुषा ह्ययमर्थं पश्यन् नावधारयति–धूम इति वा रेणुरिति वेति। तदेतद् इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमनवधारणज्ञानं प्रत्यक्षं प्रसज्यते इत्यत आह व्यवसायात्मकमिति। न्यायभाष्य 1.1.4
5. न चौतन्मन्तव्यम्–आत्ममनःसन्निकर्षजमेवानवधारणज्ञानमिति, चक्षुषा ह्यमर्थं पश्यन्ना–वधारयति...यच्चैतद् इन्द्रियानवधारणपूर्वकं मनसानवधारणं तद्विशेषापेक्षं विमर्शमात्रं संशयो न पूर्वमिति। न्यायभाष्य 1.1.4
6. समस्तमसमस्तं चेति सन्देहः।...कुतः? उभयथा दर्शनात्। न्यायवार्तिक पृ.206
7. समस्तमित्याह। यस्मादेकशोऽनुमानसुखशाब्दविपर्ययसंशयज्ञानानि निवर्तन्ते इति। न्यायवार्तिक पृ.206
8. ज्ञानग्रहणं किमर्थम्? सुखादिव्युदासार्थम्। इन्द्रियार्थसन्निकर्षात् सुखदुःखेऽपि भवतः। न्यायवार्तिक पृ.203
9. न हि तत्रोदकमस्ति। तांस्तु मरीचीन् इन्द्रियोपघातदोषादिन्द्रियेणालोच्य विपर्येति इति ज्ञानस्य व्याभिचारो नार्थस्येति। वहीं
10. एकरूपश्च पुरोवस्थितमर्थमनेकरूपतया स्पृशति संशयः स्थाणुर्वा पुरुषो वेति सोऽयमतस्मिंस्तथाभावाद्विपर्यय एवेति पूर्वपदव्युदस्तत्वान्न पदान्तरव्यवच्छेद्यतामर्हतीति। नैतदेवम्, स्वरूपभेदात् कारणभेदाच्च। न्यायमंजरी पृ.139
11. किमर्थं तर्हीदमस्तु? उक्तमाचार्यैः उभयजज्ञानव्यवच्छेदार्थमिति। न्यायमंजरी पृ.132 तदस्य ज्ञानमिन्द्रियजमपि न केवलेन्द्रियकरणकं भवितुमुचितम्, असति संज्ञोपदेशिनि शब्दे तदनुत्पादात्, तेन शब्देन्द्रियाभ्यां सम्भूय जनितत्वादुभयजमिदं ज्ञानं व्यपदेशाज्जातमिति व्यपदेश्यमुच्यते। तदव्यपदेश्यपदेन व्युदस्यते। न्यायमंजरी पृ.121
12. तस्मादुभयजज्ञानव्युदासानुपपत्तितः। व्याख्या भङ्ग्यन्तरेणास्य पदस्येयं विधीयते। न्यायमंजरी पृ.122

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

13. तस्मात् प्रत्यक्षस्य लक्ष्यस्यासद्भावात् कस्येदं लक्षणमुपक्रान्तमिति असम्भवदोषमाशङ्क्याह सूत्रकारः अव्यपदेश्यमिति। यदिदमविदितपदपदार्थ–सम्बन्धस्य ज्ञानमुत्पद्यते, विदितसम्बन्धस्य वा यत् प्रथमाक्षसन्निपातसमय एव ज्ञानमनुल्लिखितशब्दं शब्दानुस्मरणे हेतुभूतमुपजायते तदशाब्दम्, अशब्दावच्छिन्नविषयमव्यपदेश्यमिन्द्रियार्थसन्निकर्षैककरणमविकल्पं प्रत्यक्षम्। न्यायमंजरी पृ.125

14. न च तदानीमन्तःसङ्कल्परूपेणापि शब्दोल्लेखः, उत्पन्ने तु संशये विपर्यये च वाचकस्मरणं भविष्यतीति सम्यग्ज्ञानवत् संशयविपर्ययावपि शब्दोल्लेखशून्यौ संवेद्येते, विशेषस्मृतिस्तु विशेषविषयत्वात्......
सम्यक्प्रत्ययवत्तस्माद् वाचकोल्लेखवर्जितौ। अक्षव्यापारजन्मानौ स्तः संशयविपर्ययौ।। न्यायमंजरी पृ.139–140

15. अपरे तु अव्यपदेश्यमित्यनेनानुमानं निराकुर्वन्ति। तच्च नैवम्, कस्मात्? इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमिति वचनात्। न ह्यनुमेयस्येन्द्रियेण सन्निकर्षादनुमानं भवति। न्यायवार्तिक पृ.204

16. इन्द्रियार्थसन्निकर्षेण हि लिङ्गेन यदिदिन्द्रियगतिज्ञानं तदपि प्रत्यक्षलक्षणोपेतमिति प्रत्यक्षं प्रसज्यत इति तन्निवारणाय अव्यपदेश्यपदम्। तात्पर्यटीका पृ.223

17. वाचस्पति मिश्र द्वारा प्रत्यक्ष के दो भेदों को मानने का आधार त्रिलोचन कृत प्रत्यक्ष का द्विविध विभाग ही है, ऐसा वाचस्पति मिश्र स्वयं स्वीकार करते हैं। त्रिलोचन कृत कोई ग्रन्थ नहीं प्राप्त होता है परन्तु ज्ञानश्रीमित्र त्रिलोचन प्रणीत ग्रन्थ का नाम न्यायमंजरी बताते हैं। न केवल ज्ञानश्रीमित्र अपितु वाचस्पति मिश्र ने भी विधिविवेक की न्यायकणिका नामक व्याख्या के मङ्गलाचरण में "अज्ञानतिमिरशमनीं परदमनीं न्यायमंजरीं रुचिराम्। प्रसवित्रे प्रभवित्रे विद्यातरवे नमो गुरवे।।" कहते हुए त्रिलोचनकृत न्यायमंजरी का उल्लेख किया है। ज्ञानश्रीमित्र ने बहुत सारे स्थलों पर त्रिलोचन का उल्लेख किया है। रत्नकीर्ति ने भी अनेक स्थलों पर त्रिलोचन का उल्लेख किया है। परन्तु आश्चर्य है कि जयन्त भट्ट जैसे दार्शनिक का उल्लेख नहीं किया है। जयन्त भट्ट कृत न्यायमंजरी में प्रत्यक्ष के इन दो भेदों का सयुक्तिक प्रस्ताव प्राप्त होता है। वाचस्पति मिश्र ने सविकल्पक तथा निर्विकल्पक इस प्रकार से प्रत्यक्ष की द्विविधता को स्वीकार करने का श्रेय त्रिलोचन को दिया है। परन्तु जयन्त भट्ट इसके विषय में किसी त्रिलोचन का नाम उद्धृत नहीं करते जबकि इसके विपरीत अप्रचलित से रुचिकार तथा प्रवर आदि के मतों का उल्लेख करते हैं। इस कारण इसकी सम्भावना भी हो सकती है कि जयन्त भट्ट का ही नामान्तर त्रिलोचन रहा हो। परन्तु इसके समर्थन में अभी समुचित युक्तियों का अभाव है तथा किसी ऐसी स्थापना को प्रस्तावित करने के पूर्व विस्तृत तथा गम्भीर शोध की अपेक्षा है। इसके अतिरिक्त विभिन्न विद्वानों ने कुछ एक युक्तियों के आधार पर त्रिलोचन तथा जयन्त भट्ट को अलग–अलग सिद्ध करने का प्रयास भी किया है। महामहोपाध्याय फणिभूषण तर्कवागीश ने जयन्तभट्ट को वाचस्पति मिश्र से परवर्ती माना है। (द्रष्टव्य–फणिभूषण तर्कवागीशकृत, न्यायदर्शन के बाङ्ला व्याख्यान के प्रथम भाग के द्वितीय संस्करण की भूमिका)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कांट के दर्शन का तात्पर्य - II

कृष्णचंद्र भट्टाचार्य

अनुवादक : मुकुन्द लाठ

(2) ज्ञान परीक्षा

(1) ज्ञान का लक्षण

कांट ने ज्ञान के दो प्रकार माने हैं : कृत्यात्मक या कृतितंत्र आत्मज्ञान और अकृत्यात्मक स्वतंत्र विषयज्ञान। ज्ञान के इन दोनों प्रकारों का साधारण धर्म है : वस्तुता–निश्चय। जिस पदार्थ का ज्ञान होता है वह 'है', या 'नहीं है', या 'है सही'[1], इन रूपों में प्रतीत होता है। आत्मा का ज्ञान विधि या स्वतंत्र–कृति का ज्ञान होता है। 'विधि है', यह कहना औपचारिक ही हो सकता है, क्योंकि विधि या लिङ्र्थ के अस्तित्व का कोई अर्थ नहीं होता। फिर भी विधि अवस्तु नहीं होती। अस्तित्व को वस्तुता का प्रकार–विशेष ही कहा जा सकता है। विधि की वस्तुता क लिये 'अस्तित्व' शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता; यह शब्द विषय की वस्तुता के लिये ही उपयुक्त है। विधि या स्वतंत्रकृति–रूप आत्मा की वस्तुता के लिये 'अस्तित्व' का प्रयोग उपचार या शब्द–विकल्प ही ठहर सकता है। इसलिये, 'यह विधि है', ऐसा न कह कर, 'यह विधि है (तो) सही' कहना ही उचित है। जिस पदार्थ के बारे में, 'हो सकता है', यह प्रतीति हो, उसके बारे में अगर यह निश्चय हो कि 'नहीं है', तो इस निश्चय को ज्ञान कहा जा सकता है। जिसके बारे में 'नहीं है', यह ज्ञान हो, उसके बारे में कहा जा सकता है कि 'यह नहीं (ही) है सही'। पर 'है', यह ज्ञान हो तो वह ज्ञान भी 'है सही' कहला सकता है। अतएव वस्तुता का सर्वत्र ही 'है सही' द्वारा निर्देश किया जा सकाता है। 'यह है सही', इस वाक्य द्वारा पदार्थ की ज्ञातता का प्रकाश होता है। वस्तुता–निश्चय को 'है सही'–निश्चय या विधान–निश्चय कहा जा सकता है। कांट के मत में ज्ञान का अर्थ ही है, विधान–निश्चय।

1. यहाँ बांग्ला का शब्द है 'बटे'। इस ठेठ, पर अर्थगर्भ, शब्द का कोई सीधा सा हिंदी अनुवाद संभव नहीं। पर शब्द यहाँ आचार्य के तात्पर्य के मर्म में है, जैसा यहीं आगे स्पष्ट होगा। हिंदी उल्था इस तात्पर्य को ध्यान में रख कर किया गया है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जिस पदार्थ के बारे में यह प्रतीति हो कि वह 'हो सकता है', अर्थात् जिस पदार्थ के बारे में उसके अस्तित्व की संभावना की प्रतीति हो, उसके बारे में अगर यह निश्चय हो जाये कि 'वह नहीं है', तो इस निश्चय को 'नहीं है सही', इस वाक्य में प्रकाशित किया जा सकता है, और इसलिये इस निश्चय को भी विधान–निश्चय कहा जा सकता है। अस्तित्व की संभावना के निश्चय को भी 'हो सकता है सही', ऐसे वाक्य में प्रकाशित किया जा सकता है, और इसलिये यह निश्चय भी विधान–निश्चय की कोटि में आता है। 'इस सत् पदार्थ का न होना असंभव है', ऐसी अवश्यंभाव प्रतीति भी विधान–निश्चय की कोटि में आती है। विषय पदार्थ 'है' अथवा 'नहीं है', यह निश्चय ही मुख्य विधान–निश्चय है। संभावना–निश्चय और अवश्यंभाव–निश्चय, निश्चय के इन उक्त रूपों को गौण विधान–निश्चय कहा जा सकता है। विषयपदार्थ के ये विधान–निश्चय–भेद स्वीकार करने होंगे। पर विधि का स्वतंत्र–कृति–रूप आत्मा का न गौण निश्चय होता है न मुख्य निश्चय।

वस्तुता और ज्ञातता के संबंध में कांट का जो मत है उसकी कुछ विस्तार से चर्चा अपेक्षित है। ज्ञात–पदार्थ वस्तु ही होता है, पर यह कहा जा सकता है कि उसकी ज्ञातता उसकी वस्तुता से भिन्न होती है। ज्ञातता ऐसा पदार्थ–विशेष है जो वस्तु–निष्ठ होता है। व्यक्तता या प्रकाश इस पदार्थ के नामांतर हैं। पर ज्ञातता–प्रत्यय, 'मैं जान रहा हूँ', इस प्रत्यय का नामांतर मात्र नहीं है। विषय–ज्ञान में ज्ञातता का जो अनुभव होता है वह ज्ञान के साथ वस्तु के संबंध से घटित होने का होता है, पर साथ ही यह अनुभव भी होता है कि ज्ञातता इस संबंध से भिन्न आगन्तुक वस्तु–धर्म है। जबकि स्वतंत्र–कृति–रूप आत्मज्ञान में ज्ञातता को आत्म–वस्तु का आगन्तुक वस्तु–धर्म नहीं कहा जा सकता। क्योंकि विषय के ज्ञात होने पर ज्ञान से पहले उसके अज्ञात रहे होने का जैसा ज्ञान होता है, आत्मा के ज्ञात होने पर वैसा नहीं होता। हालांकि आत्मा के ऐसे ज्ञान में यह प्रतीति नहीं होती कि 'अब उसका जैसा ज्ञान है, पहले भी वैसा ही ज्ञान था'। प्रतीति यह होती है कि वर्तमान ज्ञान की अपेक्षा से उसका पूर्व ज्ञान असम्यक् था। पर 'आत्मा का वर्तमान ज्ञान अपेक्षया सम्यक् है', इस का अर्थ यह नहीं है कि वर्तमान में आत्मा के संबंध में किसी नये तथ्य का ज्ञान हुआ है, या उसका प्रकाश स्फुटतर हुआ है। अर्थ यह है कि आत्मा की वस्तुता में ही वृद्धि हुई है : आत्म अब सिद्धतर हुई है और इसलिये प्रकाशतर हुई है। तो, निकलता यह है कि आत्मा सदाप्रकाश वस्तु होते हुए भी आपेक्षिक–भाव से अप्रकाशित भी रहती

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है। इस अर्थ में आत्मा को व्यक्ताव्यक्त वस्तु कहा जा सकता है। पर विषय–रूप वस्तु स्वभाव से ही अव्यक्त होती है, उसकी व्यक्तता या ज्ञातता या उसका प्रकाश, आगन्तुक होता है। पर आगन्तुक होने का यह अर्थ नहीं कि अपने ज्ञात रूप में विषय अपने वस्तु रूप से भिन्न होता है : ज्ञात पदार्थ अगर वस्तु न हो तो उसे 'ज्ञात' ही नहीं कहा जा सकता। आगन्तुकत्व का यहाँ अर्थ इतना ही है कि विषय–वस्तु ज्ञात नहीं भी हो सकती है। जबकि आत्मरूप वस्तु के लिये यह संभव नहीं कि वह नितांत अज्ञात या अप्रकाशित हो। हाँ, उसे पूर्णप्रकाश रूप से ही जानें–समझें, यह आवश्यक नहीं। आत्मा के प्रकाश में पूर्णतर प्रकाश की आकांक्षा सदा बनी रहती है। इसी रूप में उसकी ज्ञातता और वस्तुता का भेद हमें उपलब्ध होता है।

प्रकाश वस्तुता की अपेक्षा रखता है। पर वस्तुता प्रकाश की अपेक्षा नहीं रखती। और रखे भी तो प्रकाश के तारतम्य के साथ वस्तुता का तारतम्य घटित नहीं होता। वस्तु प्रकाशित होती है तो उसके और प्रकाश के बीच भेद की उपलब्धि होती है। वस्तु की ज्ञातता के ज्ञान में यह उपलब्धि भी होती है कि इस भेद की उत्पत्ति ज्ञान के साथ ही हुई है। आत्मज्ञान के प्रसंग में वस्तु और उसके प्रकाश के बीच का भेद आत्म–वस्तु–जन्य होता है; और क्योंकि आत्मा का कृति–स्वरूप उसके ज्ञान से अभिन्न है, इसलिए उक्त भेद को आत्मज्ञान–जन्य भी कहा जा सकता है। पर विषयज्ञान के प्रसंग में इस भेद को विषय–वस्तु–जन्य नहीं कहा जा सकता, उसे केवल विषय–ज्ञान–जन्य ही कहा जा सकता है। पर आत्मा और विषय, इन दोनों प्रसंगों में यह भेद वस्तुनिष्ठ और ज्ञान–जन्य होता है। विषय–ज्ञान में यह भेद ज्ञान–मात्र जन्य होता है, और इस कारण वस्तु–निष्ठ आभास के रूप में प्रतीत होता है; आत्मज्ञान में यह भेद वस्तु–जन्य होता है, और इसलिये वास्तव भेद के रूप में प्रतीत होता है। पर दोनों ही प्रसंगों में ज्ञान ही वस्तु–प्रकाशक भी होता है और वस्तुनिष्ठ उक्त भेद का जनक भी। अब, भेद–जनक होने के कारण ज्ञान को क्रिया भी कहा जा सकता है। ज्ञान वस्तुता और वस्तु–निष्ठ भेद दोनों का प्रकाशक होता है। प्रकाशक के रूप में वह क्रिया नहीं होता। अतएव, कांट के मत में ज्ञान क्रिया है भी और नहीं भी है। प्रकाशक के रूप में ज्ञान अक्रिया है, पर जनक के रूप में उसे क्रिया ही कहना होगा। आत्मज्ञान में ज्ञान की क्रिया आत्म–स्वरूप कृति से अभिन्न और कृतितंत्र होती है। विषय–ज्ञान में ज्ञान–क्रिया कृति से भिन्न अकृतितंत्र या स्वतंत्र होती है; इसलिये उसकी उपलब्धि कृतितंत्र आत्मज्ञान में ही होती है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या विधान–निश्चय से भिन्न कोई दूसरा निश्चय भी होता है? क्योंकि अगर विधान–निश्चय से भिन्न दूसरा निश्चय न हो तो ज्ञान और निश्चय के अर्थ में कोई भेद नहीं उभरता, और फिर ज्ञान को विधान निश्चय के रूप में विशेषित करने का भी कोई प्रयोजन नहीं रहता। हमने ऊपर विषय–पदार्थ के दो गौण विधान–निश्चयों की बात की है; ज्ञान या विधान–निश्चय से अतिरिक्त किसी निश्चय का संकेत फिर इन निश्चयों में ही समा जायेगा। संभावना–ज्ञान और अवश्यंभाव–ज्ञान, ये दोनों ही किसी मुख्य ज्ञान की अपेक्षा करते हैं। असंभव–पदार्थ उसे कहा जाता है जिसकी कल्पना मुख्यज्ञान विरोधी हो। जिस पदार्थ की कल्पना में ऐसा विरोध न हो उसे संभव–पदार्थ या संभावना का नाम दिया जाता है। जिस पदार्थ के नास्तित्व की कल्पना असंभव हो, अर्थात् मुख्यज्ञान–विरोधी हो उसे अवश्यंभावी–पदार्थ या अवश्यंभाव का नाम दिया जा सकता है। कल्पित वस्तु के साथ ज्ञात वस्तु का विरोध या अविरोध ज्ञात वस्तु से अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं है। इसलिये संभावना और अवश्यंभाव को ज्ञान के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। पर ज्ञात वस्तु के साथ कल्पित विषय संगत है या असंगत, इसका ज्ञान नहीं होता, वेदना मात्र होती है। कल्पित पदार्थ किसी ज्ञान–निश्चय वाक्य के उद्देश्य या विशेष्य पद का स्थान नहीं ले सकता। कल्पित की संगति या असंगति भी कल्पित ही होती है। जिस कल्पित पदार्थ की ज्ञात जगत् के साथ संगति या असंगति का बोध हो, उस पदार्थ का अपने आप में निश्चय न होने पर भी उसके जगत् के साथ संगति या असंगति के संबंध को निश्चय ही कहना होगा। उस पदार्थ की कल्पना के मूल में जो वेदना है, उस वेदना से ही इस निश्चय का उद्भव होता है। और वेदना–निश्चय ही विधान–निश्चय से इतर निश्चय है।

जिस कल्पित पदार्थ के बारे में यह ज्ञान हो कि 'वह हो सकता है', उसके बारे में यह वेदना–निश्चय होता है कि 'मानो वह है ही, मानो वह वास्तव विषय है'। पर हर कल्पित पदार्थ के बारे में यह भान नहीं होता है कि 'मानो वह है'। आवश्यक नहीं कि पदार्थ की कल्पना उसके अस्तित्व की भी कल्पना हो। अस्तित्व की कल्पना एक ओर संभावना–ज्ञान होती है,पर दूसरी ओर किसी अभास–विषय का वेदना–ज्ञान भी होती है। ऐसा कल्पित पदार्थ जिसके बारे में वह ज्ञान हो कि 'ऐसा नहीं हो सकता कि यह न हो', उस कल्पित पदार्थ के बारे में वह वेदना–निश्चय होता है कि 'उसे होना चाहिये, वह वास्तव विधि है'। यों तो कृति–विषयक विधि ही वास्तव

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विधि होती है, अस्तित्व विषयक विधि तो उपचार मात्र ही है; इस उपचार को 'अस्तित्व के ध्यान की विधि' का अर्थ दिया जा सकता है। ऐसी ध्यान–विधि को विधि की छाया या अभास–विधि ही कहना–समझना चाहिये। कृति की विधि ही विधि होती है। कह सकते हैं कि ध्यान भी कर्म ही है, पर ध्यान में कर्तृत्वज्ञान का अभाव होता है, इसलिये उसे विधि नहीं कहा जा सकता। जिस पदार्थ के बारे में अवश्यंभाव ज्ञान हो, उसी ज्ञान के वेदना–निश्चय में ज्ञातता या सिद्धता से अलग ध्येयता या साध्यता (Postulate) या श्रद्धेयता की प्रतीति होती है। ध्यान–विधि से बाहर किसी श्रद्धेय–पदार्थ का कोई अस्तित्व नहीं होता, इसलिये ऐसे पदार्थ को ध्यान–विधि–स्वरूप कहा जा सकता है। हम पहले ही कह चुके हैं कि विधि आत्मा का स्वरूप है। अतएव संभावना–ज्ञान और अवश्यंभाव–ज्ञान की तरह वेदना–निश्चय द्वारा निश्चित पदार्थ को यथाक्रम से आभास–विषय और आभासात्म कहा जा सकता है। रस–वेदना से आभास–विषय का निश्चय होता है और श्रद्धा–स्वरूप धर्मवेदना से आभासात्म विषय जन्म लेता है। विधान–निश्चय या वस्तुता–निश्चय, जो ज्ञान कहलाता है, वह इन दोनों निश्चयों से भिन्न होता है।

(2) ज्ञान विषय की आभासात्मक वस्तुता (Phenomenal reality)

हमने आत्मा का कृत्यात्मक ज्ञान और विषय का अकृत्यात्मक या स्वतंत्र ज्ञान स्वीकार किया है। आत्मा के विषय में संभावना–ज्ञान या अवश्यंभाव–ज्ञान, ये नहीं होते। ऐसे ज्ञान के लिये आत्मा के नास्तित्व की कल्पना का प्रयोजन है। पर स्वतंत्र–कृति–रूप आत्मा के वस्तुता–ज्ञान में अस्ति–नास्ति का प्रसंग ही नहीं खड़ा होता। जबकि विषय के वस्तुता–ज्ञान में विषय के नास्तित्व की कल्पना तो होती ही है, उसकी नास्तित्व–संभावना का ज्ञान भी बना रहता है। जिस विषय के बारे में 'है', यह ज्ञान होता है, उसके बारे में यह ज्ञान भी होता है कि 'यह नहीं भी हो सकता है'। सच यह है कि विषय के अवश्यंभाव का ज्ञान होता ही नहीं। किसी ज्ञात विषय में अनुमित विषयांतर के ज्ञान को जब हम अवश्यंभाव ज्ञान की कोटि में रखते हैं तो यह बात पूर्वज्ञात की अपेक्षा से ही की जाती है। पर क्योंकि उस पूर्वज्ञात की नास्तित्व–संभावना बनी रहती है, इसलिये अनुमिति की नास्तित्व–संभावना से भी इनकार नहीं किया जा सकता। ज्ञात–विषय की नास्तित्व–संभावना नियत होती है, इसलिये उसकी वस्तुता को नास्तित्व–संभावनात्मक कहा जा सकता है। नास्तित्व–संभावना कल्पित

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पदार्थ का आभास है। यह आभास विषय–वस्तु में नियत है, इसलिये ज्ञान विषय को आभासात्मक वस्तु (Phenomenal reality) कहना होगा। वेदना द्वारा कल्पित पदार्थ का निश्चय तो हो सकता है, पर यह निश्चय ज्ञान या विधान निश्चय नहीं होता – यह हम पहले ही कह चुके हैं। ऐसे कल्पित पदार्थ या आभास के बारे में 'यह वस्तु है', ऐसा निश्चय नहीं होता; बस यही निश्चय होता है कि 'यह अवस्तु नहीं है'। ज्ञान विषय का घटक जो आभास होता है, वह उस विषय से अभिन्न होता है, इसलिये उसे भी वस्तु ही कहना होगा। फिर भी उसके बारे में जो यह ज्ञान होता है कि 'यह विषयवस्तु आभास–विशिष्ट है', यह ज्ञान उस विशेष्य वस्तु के आभास–रूप–विशेषण से भिन्न का ज्ञान होता है। ज्ञात विषय में वस्तुता और आभास के बीच ऐसा भेदाभेद स्वीकार करना होगा। तो, ज्ञात विषय को आभासात्मक वस्तु या वास्तव आभास कहा जा सकता है।

ज्ञात, या दूसरे शब्दों में, 'अस्ति–रूप में व्यक्त विषय', के बारे में यह स्वीकार करना पड़ेगा कि 'यह नास्तित्व–की–संभावना–रूप आभास द्वारा घटित है'। यह आभास कल्पित होते हुए भी ज्ञात पदार्थ है, अस्ति–रूप में व्यक्त पदार्थ है। पर जो नास्तित्व–संभावना अस्ति–रूप में व्यक्त है, वह विषय की ज्ञातता या विषयता की घटक होते हुए भी उसे अस्तित्व का घटक नहीं कहा जा सकता। विषय का अस्तित्व–ज्ञान उसके अस्तित्व–संभावना–ज्ञान की अपेक्षा नहीं करता, वह नास्तित्व–संभावना–ज्ञान द्वारा बाधित भी नहीं होता। अस्तित्व–ज्ञान प्रत्यक्ष या प्रत्यक्ष से उद्भूत ज्ञान होता है। विषय की नास्तित्व–संभावना का ज्ञान उसके अस्तित्व–ज्ञान की अपेक्षा रखता है और उसी प्रकार का ज्ञान होता है। जिस विषय के बारे में यह ज्ञान हो कि 'वह है', उसके बारे में यह ज्ञान होना कि 'वह नहीं भी हो सकता है', इस बात का अर्थ यही है कि वह 'इस प्रकार' का न हो कर 'किसी अन्य प्रकार' का हो सकता है। ज्ञात विषय का प्रकार–ज्ञान अगर प्रतिषिद्ध हो जाये तो विषय–ज्ञान का लोप हो जायेगा, पर निश्चय का लोप नहीं होगा, निष्प्रकारक या, दूसरे शब्दों में, अव्यक्त विषय का निश्चय बना रहेगा। तो, ज्ञान–विषय की ज्ञात, अर्थात् अस्ति–रूप में व्यक्त नास्तित्व–संभावना को ही उसका प्रकार कहना चाहिये। प्रकारता या प्रकार–सामान्य ही विषय की ज्ञातता या विषयता है। वह विषय की अस्तिता या वस्तुता से भिन्न है, पर अस्तिता–सापेक्ष है। अब, क्योंकि विषय की नास्तित्व–संभावना एक आभास–विशेष है, इसलिये विषय के ज्ञात–प्रकार को ज्ञात आभास कहा जा सकता है। और यों, ज्ञात विषय को सप्रकार या आभासात्मक वस्तु कहा जा सकता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(3) ज्ञात–विषय का प्रकार और ज्ञान–क्रिया

हमने विषय के ज्ञात प्रकार को उसकी नास्तित्व–संभावना का अस्तित्व कहा है। इस संभावना का अस्तित्व विषय–घटक है, इसलिये विषय होते हुए भी उसे केवल विषय–निष्ठ होने के रूप में ही नहीं समझा जा सकता, उसे स्फुटभाव से विषय–ज्ञान–निष्ठ होने के रूप में भी समझना होगा। अगर यह उपलब्धि न हो कि विषय–वस्तु का प्रकार विषय–ज्ञान का भी प्रकार है, तो प्रकार के अस्तित्व की उपलब्धि नहीं हो सकती। आभास की ऐसी अस्तित्व–उपलब्धि के बिना आभासात्मक होते हुए भी विषय कैसे वस्तु हो सकता है, यह बात नहीं समझी जा सकती। विषय और ज्ञान के संबंध–विशिष्ट विषय–भाव के रूप में ही आभासात्मक विषय–वस्तु की उपपत्ति होती है। विषय और ज्ञान का संबंध विषय में भी होता है, ज्ञान में भी होता है। पर ज्ञान के साथ विषय के संबंध को विषय का प्रकार–विशेष नहीं कहा जा सकता, उसे प्रकार–सामान्य ज्ञातता या प्रकार–सामान्य विषयता कहना होगा। विषय के साथ ज्ञान के संबंध को औपचारिक भाव से ज्ञान का प्रकार कहा जा सकता है, पर सच यह है कि इसे ज्ञान–क्रिया कहना ही उचित है।

कहा जा सकता है कि विषय का संबंध विषय में रहता है। संबंध का अस्तित्व विषय के अस्तित्व की अपेक्षा रखता है, पर विषय का अस्तित्व संबंध के अस्तित्व की अपेक्षा नहीं रखता। संबंध विषय–घटित ही होता है, पर विषय के बारे में नहीं कह सकते कि वह संबंध घटित होता है। फिर भी, इसलिये कि हममें वह बोध रहता है कि 'इस विषय में यह विशेष संबंध विद्यमान है', यह मानना होगा कि कोई ऐसा विशेष धर्म है जो संबंध का घटक होता है। 'यह विषय इस संबंध–घटक धर्म द्वारा घटित है', यह बात स्वीकार करनी होगी। पर विषय–ज्ञान में इस संबंध–घटक धर्म का साक्षात् बोध नहीं होता। लेकिन विषय–ज्ञान के ज्ञान में विषय के साथ ज्ञान के संबंध–घटक ज्ञान–धर्म का साक्षात् बोध होता है। 'इस विषय का ज्ञान हो रहा है', ऐसे अनुभव के मर्म में ज्ञान के विषय के साथ ज्ञान का जो सामान्य–कारणत्व–रूप ज्ञान होता है, हमारा कल्पनामन अपने निश्चय में उसे ज्ञान के ही प्रकार के रूप में ठहराता है। वैसे, इस प्रसंग में निश्चय तो इतना ही होता है कि 'इस विषय को जान रहा हूँ'। किसी वाक्य में कर्मपद के साथ क्रिया का जैसा संबंध होता है, विषय के साथ ज्ञान का वैसा ही संबंध होता है'; अर्थात् 'यह संबंध क्रिया–विशेष है', ऐसा निश्चय होता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विषय के साथ ज्ञान का संबंध विषयभाव में उपचरित ज्ञान के प्रकार–रूप में आभासित होता है। ज्ञान–क्रिया ही इस प्रकाराभास की घटक ज्ञान–धर्म होती है। ज्ञान का धर्म ही यह है कि ज्ञान विषय की अपेक्षा करता है। यह अपेक्षा–क्रिया ही विषय के साथ ज्ञान का संबंध है। ज्ञान का संबंध भाक्त पदार्थ का विकल्प है। ज्ञान की संबंधन–रूपी अपेक्षा–क्रिया ही ज्ञान के संबंध या प्रकार के रूप में विकल्पित होती है।

अब यहाँ प्रसंग यह उठता है कि संबंधन–रूपी अपेक्षा को ज्ञान–क्रिया कहना उपचार मात्र है या नहीं। कांट के क्रिया शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया है। उसके लिये विषय की गति भी क्रिया है, आत्मा की कृति भी क्रिया है और आत्मा का ज्ञान भी क्रिया है। कांट ने क्रिया का कोई सामान्य लक्षण नहीं किया है। उनकी बातों पर विचार करने से उभरता है कि जहाँ भी कोई नियत–घटकत्व हो, वहाँ कांट ने क्रिया शब्द का प्रयोग किया है। वह सप्रकार वस्तु जो किसी पदार्थ के बिना सप्रकार नहीं होती, उस वस्तु को तत् पदार्थ द्वारा घटित कहा जा सकता है। घटित वस्तु सप्रकार ही होती है; वह घटित ही प्रकार के रूप में होती है, वस्तुता की दृष्टि से वह अघटित का स्वतंत्र होती है, इस कारण घटित पदार्थ से उस अघटित का भेद उसकी वस्तुता और घटक की वस्तुता, इन दोनों की अपेक्षा करती है – ऐसा कहा जा सकता है। घटितत्व का अर्थ अवश्यघटितत्व ही होता है, पर घटक वस्तु घटक हो ही, ऐसा नियम नहीं है। जिस घटक–पदार्थ का घटकत्व नियत अथवा अवश्यंभावी है, उसे क्रिया कहते हैं। ज्ञान का विषय जिस रूप में सप्रकार विषय–वस्तु होता है, प्रकार के रूप में वह ज्ञान द्वारा घटित होता है, और ज्ञान को अगर उस विषय का नियत–घटक स्वीकार किया जाये तो फिर ज्ञान को विषय का प्रकार अथवा प्रकारित–विषय–रूपी फल ही घटक क्रिया कहना होगा। हालांकि क्रिया–घटित फल क्रिया से भिन्न पदार्थ होता है, फिर भी ऐसी क्रिया को उसके फल से भिन्न नहीं कहा जा सकता। क्रिया–कारणाक–फल की अपेक्षा से क्रिया–घटित फल में यह विशेष बात सामने आती दिखती है, जिसे स्वीकार करना आवश्यक है।

(4) आकारक और प्रकारक ज्ञान–क्रिया

ज्ञान के साथ विषय का संबंध विषय की प्रकारता होती है, विषय के साथ ज्ञान का संबंध ज्ञान–क्रिया है, और विषय का प्रकार–विशेष ज्ञान–क्रिया–घटित फल होता है। ज्ञात–विषय की ज्ञातता, विषयता या प्रकारता अगर ज्ञान–क्रिया द्वारा विशेषित हो तो विषय का प्रकार विशेष रूप

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

से प्रतिभात होता है। प्रकार–विशेष का ज्ञान, 'यह विषय इस प्रकार का है', ऐसे वाक्य में प्रकाशित किया जाता है। यहाँ विशेष्यपद, 'यह विषय', का संकेत ज्ञाता के संबंध से देशकाल–विशेष में स्थित विषय की ओर होता है। 'इस प्रकार का है', इस विशेषणपद का अर्थ होता है : 'इस जातीय प्रकार का है', अर्थात् विशेषण पद का संकेत जाति–विशेष–रूप प्रकार की ओर होता है। देशकाल–विशेष में होना विषय का प्रकार होता है, पर जाति रूप प्रकार नहीं होता। जाति–रूप प्रकार का ज्ञान विषय के देशकाल–विशेष–में–स्थिति के ज्ञान की अपेक्षा रखता है, लेकिन प्रकार का ज्ञान जाति–रूप प्रकार के ज्ञान की अपेक्षा नहीं करता। विषय के ज्ञान में विषय–वस्तु का इन दो प्रकारों में ज्ञान होता है। हम कह चुके हैं कि प्रकार ज्ञान–क्रिया–घटित होता है। तो, इन प्रकारों में घटक ज्ञान–क्रिया को भी दो प्रकार मानना होगा। विषय के देशकाल–विशेष में स्थित होने के ज्ञान की घटक–क्रिया को ग्रहण–क्रिया और जाति–विशेष–व्याप्य होने के ज्ञान की घटक–क्रिया को अध्यवसाय–क्रिया कहा जा सकता है। विषय का पहला प्रकार ग्रह्य होता है, और दूसरा अध्यवसेय। गृहीत विषय – या दूसरे शब्दों में ऐन्द्रिय–प्रत्यक्ष–गम विषय – के संबंध–ज्ञान को अध्यवसाय कहा जाता है।

अगर क्रिया शब्द के ऊपर–कहे गये व्यापक अर्थ को मान लें, तो ग्रहण–रूप ज्ञान को भी क्रिया कहा जा सकता है। गृहीत विषय देशकाल–घटित होता है; उसके ग्रहण में अन्य गृहीत विषयों के साथ उस विषय के देशकाल संबंध का, और उसके अंशों के परस्पर देशकाल–संबंध का ज्ञान होता है। इस तथाकथित संबंध का नाम है सन्निवेश। विषय के संबंध–ज्ञान में अगर विषय–ज्ञान से भिन्न जातीय मानना हो तो फिर सन्निवेश को संबंध नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सन्निवेश का ग्रहण विषय के ग्रहण से भिन्न कुछ नहीं होता। सन्निवेश ग्राह्य पदार्थ है, दो विषयों का सन्निवेश–ग्रहण ही एक उभय संवलित विषय का ग्रहण होता है। गृहीत विषय अपने अंश–समूह के सन्निवेश से घटित होता है। यह सन्निवेश ही विषय का आकार होता है। आकारित विषय–द्वय का सन्निवेश ही एक उभय–संचलित विषय का आकार होता है। एक ज्ञान में अंतर्भुक्त दो ज्ञानों के दो आकारित विषय एकीकृत या समस्त हों तो समस्त विषय आकारित हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता। अगर आकारित हों, तो कहा जा सकता है कि दोनों विषयों का सन्निवेश हुआ है, अकारित न हो तो बात उनके संबंध की होगी, सन्निवेश की नहीं। दो विषयों का संबंध उनका निराकार समास मात्र होता है। क्योंकि साकार–विषय

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

का संबंध निराकार होता है, इसीलिये विषय–ज्ञान और विषय–संबध, ये दोनों भिन्न जातीय प्रतीत होते हैं। पर सन्निवेश का ज्ञान सन्निविष्ट विषय के ज्ञान से भिन्न–जातीय नहीं होता। साकार विषय के ज्ञान में विषय की प्रतीति साकार रूप में ही होती है। पर साकार विषय–द्वय का सन्निवेश साकार होते हुए भी साकार ज्ञान–द्वय के समास–रूप सन्निवेश–ज्ञान को उस ज्ञान–द्वय का सन्निवेश नहीं कहा जा सकता। क्योंकि सन्निवेश हालांकि आकार–घटक होता है, पर सन्निवेश के ज्ञान को साकार नहीं कहा जा सकता । अतएव सन्निवेश के ऐसे ज्ञान को साकार–ज्ञानद्वय का संबंध ही कहना होगा। अब, हालांकि सन्निवेश संबंध नहीं होता, पर ऐसे सन्निवेश के बारे में हम यह मान सकते हैं कि 'यहाँ संबंध की छाया है'। ऐसे में भान हमें यह होता है कि ज्ञान–द्वय का संबंध मानो ज्ञात विषय–द्वय का भी संबंध है।

सन्निवेश की घटक ग्रहण–क्रिया होती है; संबंध की घटक अध्यवसाय–क्रिया होती है। अध्यवसाय गृहीत विषय का संबंध–ज्ञान देता है, इसलिये कहना होगा कि अध्यवसाय ग्रहण की अपेक्षा करता है। पर ग्रहण अध्यवसाय की अपेक्षा नहीं करता। पर ग्रहणात्मक सन्निवेश में संबंधाभास होता है, इसलिये सन्निवेश का ज्ञान संबंध के ज्ञान के भीतर ही होता है; अतएव कहना यह होगा कि अध्यवसाय–क्रिया के ज्ञान में ही स्वतंत्र ग्रहण–क्रिया का ज्ञान होता है। हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं कि विषय दो प्रकार का होता है। देशकालस्थितत्व प्रकार और जातिरूपी प्रकार। संबंध–छाया–युक्त सन्निवेश या आकार ही देश–काल–स्थितत्व प्रकार है। जातिरूपी प्रकार विशेषण होता है, जिस विशेष्य प्रकार का वह विशेषण होता है, ज्ञाता के साथ संबंध–युक्त उसके आकार को विशेष्य प्रकार कहा जा सकता है। अध्यवसाय–ज्ञान में विषय का जातिरूप प्रकार ही मुख्य प्रकार होता है। विषय का गौण प्रकार विषय का आकार होता है जो मुख्य–प्रकार के आश्रय रूप में रहता है। पर मुख्य प्रकार निरपेक्ष आकार–रूपी प्रकार नहीं होता। विषय–ज्ञान अध्यवसाय का ही रूप लेता है और क्योंकि ग्रहण–ज्ञान अध्यवसाय का अंग होता है, वह इस रूप में विषय–ज्ञान होता है। पर ग्रहण अध्यवसाय का अंग न भी हो तो भी ग्रहण–ज्ञान को विषय–ज्ञान इस अर्थ में कहा जा सकता है कि ग्रहण अध्यवसाय का साकांक्ष होता है। हम यह भी मानें कि साकार विषय का जातिरूपी प्रकार–ज्ञान नहीं होता, तो भी उसके संबंध में प्रकार जिज्ञासा के बने रहने के कारण यह स्वीकार करना होता है कि उसमें प्रकार–योग्यता का ज्ञान

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रहता है। यह ठीक है कि 'कुछ साकार है', ऐसे निश्चय में प्रकारता अनुद्भूत अथवा अस्फुट रह सकती है, पर साकार विषय का निष्प्रकारक बोध निश्चय नहीं होता, कल्पना मात्र होता है। उक्त रूप में ही ग्रहण क्रिया को अध्यवसाय से भिन्न ज्ञान–क्रिया के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

(5) ज्ञानांग–रूपी कल्पना

हम कह चुके हैं कि विषय का ज्ञान के साथ संबंध होने पर विषय की विषयता का ज्ञान होता है, और ज्ञान का विषय के साथ संबंध होने पर विषयता के आकार–प्रकार–विशेष का ज्ञान होता है। ज्ञान का जो विषय के साथ संबंध होता है उसे ज्ञान–क्रिया ही कहना उचित है। इस क्रिया के बिना आकार–प्रकार के अस्तित्व का ज्ञान नहीं होता। यह हो सकता है कि आकार–प्रकार –युक्त विषय–ज्ञान में विषय की ज्ञानापेक्षा का स्फुट ज्ञान न हो, पर ज्ञान–निरपेक्ष विषय का कोई ज्ञान नहीं होता। विषय–ज्ञान के ज्ञान में विषय के ज्ञानापेक्षत्व का भी ज्ञान होता है, और अगर यह ज्ञान हो भी कि विषय–वस्तु का आकार–प्रकार ज्ञान–क्रिया से भिन्न है, तो भी यह उपलब्धि रहती है कि वस्तुता से व्यावृत्त आकार–प्रकार को ज्ञानक्रिया से अलग नहीं किया जा सकता है। और इस अर्थ में यह कहना होगा कि विषय का ज्ञात–विशेष रूप ज्ञान–क्रिया द्वारा रचित या कल्पित होता है। यह ठीक है कि ज्ञान कल्पना से नितांत भिन्न होता है, पर कल्पना ज्ञान का अंग हो सकती है। कल्पना मात्र से ज्ञान नहीं होता, पर इन्द्रिय–प्राप्त विषय के आकार–प्रकार का ज्ञान आकार–प्रकार–कल्पना से होता है। यों, विषय–ज्ञान में इन्द्रिय–प्राप्ति–की–अपेक्षा–रखती कल्पना ज्ञानांग के रूप में पर्यवसित हो जाती है। यह ज्ञानांग–रूपी कल्पना ही विषय–ज्ञान की क्रिया होती है। कांट के मत में आत्म–ज्ञान भी क्रिया ही है। क्रियाहीन ज्ञान को कांट नहीं स्वीकारते। पर आत्म–ज्ञान रूपी क्रिया स्वतंत्र कृति होती है, कल्पना नहीं। विषय–ज्ञान में कल्पना के अतिरिक्त इन्द्रिय–ग्रहण अपेक्षित होता है, पर आत्म ज्ञान में स्वतंत्र कृति के अतिरिक्त किसी पदार्थ की अपेक्षा नहीं होती। ज्ञानांग–रूपी कल्पना द्वारा ही विषय का आकार–प्रकार घटित हो कर ज्ञात होता है।

यह कल्पना विषयता के विशेष की घटक भी होती है और प्रकाशक भी। ग्रहण–रूपी कल्पना आकार–रूपी विशेष की घटक और प्रकाशक होती है, जबकि अध्यावसाय–रूपी कल्पना प्रकार–रूपी विशेष की घटक और प्रकाशक होती है। विषय–ज्ञान में प्रकार–रूपी कल्पना

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आकार–रूपी कल्पना की अपेक्षा रखती है, जबकि आकार–रूपी कल्पना प्रकार–रूपी कल्पना की अपेक्षा तो नहीं रखती, फिर भी उसमें प्रकारता या विषयता की अपेक्षा तो होती ही है। यह हम पहले ही कह चुके हैं कि विषय–ज्ञान के साथ विषय–वस्तु के संबंध को ही विषयता कहते हैं। विषय के अस्तित्व का ज्ञान उसकी नास्तित्व की संभावना के ज्ञान के बिना नहीं होता, पर फिर भी उससे भिन्न होता है। नास्तित्व की संभावना का ज्ञान–इन्द्रिय–ग्रहण–निरपेक्ष कल्पना द्वारा घटित होता है, इसलिये उसे आभास कह सकते हैं, पर क्योंकि वह ज्ञात होता है इसलिए उसे असत् नहीं कह सकते। विषय–वस्तु इस आभास पदार्थ से भिन्न होती है; पर विषयता की दृष्टि से उससे अभिन्न होती है। नास्तित्व–संभावना–रूपी सत् आभास–पदार्थ ही विषय–वस्तु की विषयता होती है। इस पदार्थ के अस्तित्व को ज्ञान के साथ विषय–वस्तु के संबंध के रूप में ही समझा जा सकता है। नहीं तो आभास के अस्तित्व को वंध्यासुत की तरह ही अलीक पदार्थ कहना पड़ेगा। पर आभास ज्ञात होता है, इसलिये उसे सत् कहा जा सकता है। ऐसी ही विषयता की अपेक्षा से विषय की आकार–कल्पना रूप लेती है। और आकार–कल्पना की अपेक्षा से जब प्रकार–कल्पना रूप लेती हैं तब विषय का अध्यवसाय–रूप ज्ञान होता है।

प्रकार–कल्पना आकार–कल्पना की अपेक्षा के बिना भी हो सकती है, पर आकार–कल्पना विषयता की अपेक्षा के बिना नहीं होती। विषय के आकार से भिन्न ज्ञान के आकार की बात करने का कोई अर्थ ही नहीं बनता, पर विषयाकार–सापेक्ष विषय–प्रकार से भिन्न भी ज्ञान का प्रकार होता है, और वहाँ ज्ञान की ही क्रिया होती है, जिसे निरर्थक नहीं कहा जा सकता। वह ठीक है कि वस्तु–शून्य आकार को विषयापेक्ष ही मानना होगा, पर वस्तु–शून्य प्रकार वस्तु–निरपेक्ष हो सकता है। वस्तु–शून्य आकार किसी वास्तव विषय ही योग्यता या संभावना के रूप में ही ज्ञेय होता है, इसलिये उसमें विषयता गौण रहती है, यह बात स्वीकार करनी होगी। पर ऐसा कोई नियम नहीं है कि वस्तु–शून्य प्रकार भी ज्ञेय विषय तभी हो सकता है जब उसमें आकार–रूप विषय की योग्यता या संभावना कल्पित की जा सके; पर उसके लिये यह आवश्यक नहीं कि वह वस्तु–शून्य आकार की तरह ज्ञेय विषय हो ही। वह अगर विषय के रूप में अज्ञेय हो तो भी वह ज्ञान–क्रिया मात्र के रूप में ज्ञेय होता है। प्रकार–ज्ञान जब विषय–ज्ञान होता है तो उसे अध्यवसाय कहा जाता है। पर ज्ञान अगर ज्ञान की क्रिया मात्र हो तो उसे

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ग्रहण और अध्यवसाय के अतिरिक्त आत्म–ज्ञान का ही रूप–भेद कहना उचित होगा। उसको 'अतिविषय–ज्ञान' (transcendental knowledge), यह नाम दिया जा सकता है। हम पहले ही कह चुके हैं कि धर्मात्मक आत्मज्ञान में स्वतंत्र–विषय–ज्ञान गर्भगत रहता है। यह गर्भगत ज्ञान विषय–विशेष का ज्ञान नहीं होता, विषय–सामान्य या विषयता का ज्ञान होता है। विषय–ज्ञान में, अर्थात् विषय–विशेष के ज्ञान में, जिस विषयता का ज्ञान होता है उसे अध्यवसाय कहा जा सकता है'; पर आत्मज्ञान में जो विषयता–मात्र के ज्ञान का पूर्वाभास होता है, उसे अध्यवसाय नहीं कहा जा सकता। ऐसा विषयता–ज्ञान ही अतिविषय ज्ञान है। यह वह ज्ञान है जिसे अभी कल्पना–रूपी ज्ञान–क्रिया द्वारा घटित होना है, यह घटित–हो–चुका–परिनिष्ठित ज्ञान नहीं होता है। यह ज्ञान–क्रिया आत्मा की तरह कृत्यात्मक नहीं होती, पर कृति की अपेक्षा अवश्य रखती हैं, पर कृत्यात्मक न होते हुए भी यह क्रिया कृति की तरह ही आत्म–स्वरूप होती है, इसलिये इसके ज्ञान को धर्मात्मक आत्मा के भीतर गर्भ–रूप में स्थित विषयता–घटक का ज्ञान कहा जा सकता है।

यह अनुभव सिद्ध है कि ज्ञानांग–रूपी कल्पना वेदना–जन्य कल्पना और अलीक कल्पना से भिन्न है। ज्ञानांग–रूपी कल्पना की तीन विधायें स्वीकार की जा सकती हैं आकार–कल्यना, प्रकार–कल्पना और विषयता–कल्पना। अध्यवसाय ही विषय–ज्ञान होता है, और यों यह त्रिविध कल्पना विषय–ज्ञान की ही अंग है। हमने कहा है कि ज्ञान क्रिया इस अर्थ में है कि वह ज्ञात विषय का घटक है, और वह प्रकाशक इस अर्थ में है कि वह परिनिष्ठित पदार्थ है। पर यहाँ यह भी कहना उचित होगा कि ज्ञानांग–कल्पना आकार–प्रकार की घटक के रूप में क्रिया है, पर प्रकाशक के रूप में वह अक्रिया है, या उसे परिनिष्ठित प्रत्यय कह सकते हैं। वह प्रकारता, विषयता और ज्ञातता का प्रकाशक मात्र है, घटक नहीं है। विषयता–कल्पना को क्रिया नहीं कह सकते, हाँ, यह कहा जा सकता है कि यह कल्पना आत्मा की ज्ञातता–घटक कृति–रूपी क्रिया का रूपान्तर–मात्र है। विषयता दो तरह से कल्पित होती है। विषय के विशेष का उद्भव हो तो कल्पना विशेष–निष्ठ विषयता की होती है, और विशेष अनुद्भूत रहे तो विषयता–मात्र की कल्पना होती है। आत्म–ज्ञान में जिस विषय–ज्ञान की अपेक्षा रहती है, वह विशेष–विषय का ज्ञान नहीं होता, विषयता–मात्र का ज्ञान होता है। जिस कृति से आत्मज्ञान जन्म लेता है, उसी से विषयता–मात्र

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

का भी ज्ञान होता है। यह विषयता, विषयता–कल्पना से अभिन्न है, इसलिए कृति को इस कल्पना से भिन्न नहीं किया जा सकता। कृत्यात्मक होने के कारण यह कल्पना–क्रिया तो है, पर विषय–ज्ञान की अपेक्षा से यह क्रिया नहीं है; इसे प्रकाश–मात्र ही मानना होगा। विषयता–कल्पना को एक ओर आत्मज्ञान की अंग–रूपी क्रिया कहा जा सकता है, पर दूसरी ओर उसमें विषय–विशेष– कल्पना की क्रिया का अक्रिय बीज भी देखा जा सकता है। पहले रूप में इसे अतिविषय क्रिया कहा जा सकता है, और दूसरे रूप में इसे ज्ञात–विषय की आत्मा – या उसका स्वरूप–कहना उचित होगा। ज्ञात–विषय की 'ज्ञात है', इस प्रतीति का नाम प्रत्यभिज्ञा है। यों, कांट ने विषयता–कल्पना को अतिविषय–प्रत्यभिज्ञा (transcndental apperception) के नाम से अभिहित किया है।

विषय के प्रकार और आकार की ज्ञानांग–रूपी कल्पना विषय–घटक क्रिया भी है और विषय–प्रकाशक भी है। पर ज्ञानांग–रूपी कल्पना अपने आप में ज्ञान नहीं होती। ज्ञान का रूप लेने के लिये कल्पना को अन्य सहकारियों की अपेक्षा होती है। प्रकार–कल्पना विषय–ज्ञान के लिये आकार–कल्पना की अपेक्षा करती है, और आकार–कल्पना के लिये इन्द्रिय के माध्यम से वस्तु–प्राप्ति या वस्तु–प्राप्ति की संभावना की अपेक्षा रहती है। इन दो अपेक्षाओं में भेद यह है कि प्रकार–ज्ञान में आकार–अनपेक्ष प्रकार अज्ञात पदार्थ होता हुआ भी कल्पित होता है, लेकिन आकार–ज्ञान में इन्द्रिय–प्राप्त विषय का इन्द्रिय–अनपेक्ष आकार कल्पित नहीं होता। आकार–ज्ञान साक्षात् इन्द्रिय–प्राप्त विषय का ज्ञान न भी हो तो भी वह इन्द्रिय द्वारा प्राप्तव्य विषय का ही ज्ञान हो सकता है। 'इन्द्रिय द्वारा अप्राप्तव्य विषय का आकार' ऐसी बात का कोई अर्थ नहीं बनता। अतएव यहाँ कहा जा सकता है कि आकार इन्द्रिय द्वारा कल्पित होने पर ही ज्ञात होता है। पर निराकर विषय का प्रकार ज्ञान न हो तो भी वह निरर्थक नहीं हो जाता। 'इन्द्रिय–प्राप्तव्य विषय निराकार है; यह कल्पना नहीं की जा सकती, पर इन्द्रिय–अप्राप्तव्य निराकर विषय की और उसके प्रकार की कल्पना की जा सकती है।

(6) अरूप, रूपारूप और सरूप कल्पना

प्रकार–ज्ञान में – अर्थात्, अध्यवसाय–की–अपेक्षा–रखते आकार–ज्ञान में – आकार दो तरह से प्रतिभात होता है। आकार सर्वत्र पूर्ण या परिनिष्ठित रूप से ज्ञात नहीं होता; अपूर्ण या सम्पाद्यमान या क्रियमाण

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आकार का भी ज्ञान हो सकता है। पर विषय के प्रत्यक्ष–ज्ञान में सर्वत्र ही पूर्ण आकार का ही ज्ञान होता है। प्रत्यक्षेतर ज्ञान में, विशेषकर अर्थापत्ति में, क्रियमाण आकार का संधान पाया जाता है। प्रत्यक्ष–विषय के कारण का अनुसंधान करें तो हम पाते हैं कि संदर्भ–विशेष में कारण के पूर्ण आकार का अनुमान संभव नहीं होता; अगर अनुमान का निष्कर्ष यह भी हो कि कारण कोई एक ही आकार–विशेष है, तो भी उसके बारे में संभावना–निश्चय एकाधिक पूर्ण आकार का होता है। और अगर यह निश्चय हो भी कि इन एकाधिक आकारों के समन्वय से एक ही आकार उभरेगा, तो भी वह आकार बुद्धिगत नहीं होता, बस उसे बुद्धिगत करने की चेष्टा भर हो सकती है, वैसी ही चेष्टा जैसे कोई चित्रकार किसी अनिर्देश्य आकार को सूत्ररूप से चित्र में प्रकाशित करने की चेष्टा करे। हाँ, ऐसी चेष्टा का क्रियमाण आकार या सूत्राकार बुद्धि में भासित होता है। यहाँ विचार करने पर यह प्रतिपत्ति जगाती है कि प्रत्यक्ष–ज्ञान में भी पूर्ण आकार के ज्ञान के साथ क्रियमाण आकार का ज्ञान अस्फुट रूप से जुड़ा रहता है। विषय के निराकर या अरूप संबंध का नाम प्रकार है, और सरूप सन्निवेश का नाम आकार। प्रकार–कल्पना को अरूप कल्पना और पूर्ण–आकार–कल्पना को सरूप कल्पना कहा जा सकता है। और यों देखें तो फिर क्रियमण आकार–कल्पना को रूपारूप–कल्पना का नाम देना उचित होगा।

आकार–निष्ठ प्रकार–कल्पना का नाम है अध्यवसाय। अध्यवसाय में आत्मा की जिस ज्ञानशक्ति या ज्ञातृत्व का प्रकाश होता है उसे बुद्धि कहा जाता है। ऐसा भी हो सकता है कि प्रकार–कल्पना बिना आकार के रूप ले ले– अर्थात् वह ज्ञान में पर्यवसित न हो; और तब उसे बुद्धिक्रिया कह सकते हैं। पर विषयता–प्रत्यय विषय–घटक क्रिया का रूप न ले तो उसे प्रकाशत्व–रूपी बुद्धि–धर्म ही कहना होगा। अनाकारित–प्रकार–रूपी बुद्धिक्रिया को बुद्धि के इस प्रकाशक धर्म का विशेषक या परिच्छेदक कहा जा सकता है। यों, विषय–बुद्धि (understading) की तीन स्थितियाँ सामने आती हैं : प्रकाश–मात्र के रूप में, प्रकाश–विशेषक–प्रकार–मात्र के रूप और, तीसरी, आकार–प्राप्त–प्रकार या अध्यवसाय के रूप में। प्रकार–बुद्धि संबंध–बुद्धि ही है, और संबंध की आकारित–विषय–निष्ठता–बुद्धि का नाम है अध्यवसाय। संबंध–बुद्धि का मूल है प्रत्यभिज्ञा। पर ऐसा नहीं है कि प्रत्यभिज्ञेय संबंध का विषय–मात्र इन्द्रिय द्वारा प्राप्तव्य ही हो। संबंधन–रूपी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बुद्धि–क्रिया बस बुद्धि के प्रकाशमात्र–रूपी धर्म की अपेक्षा करती है; प्रकाश का परिच्छेद करना या उसे विशेष रूप देना, यही इस क्रिया का नियत फल है। प्रकाश के विशेषकत्व की बात किये बिना बुद्धि क्रिया का कोई लक्षण नहीं बन सकता है। इस प्रकाश–विशेषक बुद्धि के प्रकार–मात्र को बुद्धि के आकार–निष्ठ प्रकार या अध्यवसाय से व्यावृत्त करने के लिये उसे संबंध–जाति या बौद्ध जाति (concept) की आख्या दी जा सकती है। साधारण भाव से 'जाति' शब्द संबंध–विषय–व्यक्ति–निष्ठ सामान्य के अर्थ में प्रयुक्त होता है। ऐसी विषय–निष्ठ 'जाति' को संबंध–जाति या बौद्ध जाति की छाया कहा जा सकता है। पर यहाँ मूल जाति बौद्धजाति ही है। विषय–जाति के व्यक्तियों की तरह बौद्धजाति का कोई व्यक्ति स्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि संबंध जाति–मात्र होता है, संबंध–व्यक्ति नाम का कोई पदार्थ नहीं होता। विषय–ज्ञान में संबंध–बुद्धि की नियत अपेक्षा रहती है। पर, हाँ, ऐसी अन्य बुद्धि का भी स्वीकार किया जा सकता है जो संबंध–बुद्धि की तरह विषय–ज्ञान की घटक न हो; पर इसका विवरण हम आगे देगें।

आकार–ज्ञान अध्यवसाय द्वारा अपेक्षित ग्रहण–क्रिया से होता है। हम पूर्णाकार और क्रियमाण आकार (या सूत्राकार), आकार के इन भेदों का उल्लेख कर चुके हैं। पूर्णाकार के भीतर भी, इस भेद की छाया–रखते, दो भेद और कियो जा सकते हैं : देशाकर और कालाकार; ये अनुभव–सिद्ध हैं। पर ध्येय है कि यहाँ हम सन्निवेश–घटित सभी विषय–धर्मों को 'आकार' कह रहे हैं। विषय का समीम या असीम आकार, उसका पूर्वत्व और परत्व रूप स्थान, अवकाश, परिमाण इत्यादि देशात्मक और कालात्मक या उभयात्मक रूप से कल्पित हर धर्म को व्यापक भाव से 'आकार' शब्द द्वारा निर्दिष्ट किया जा सकता है। ग्रहण–क्रिया द्वारा जिस विषय–धर्म का ज्ञान होता है वही 'आकार' है। संबंध–ज्ञान असंबद्ध आकार या आकरित विषय को संबद्ध करता है, इसलिये आकार को संबंध का उपादान कहा जा सकता है। इस तरह ग्रहण–क्रिया द्वारा जिस असन्निविष्ट पदार्थ में सन्निवेश या सन्निवेश का ज्ञान घटित होता है, उसे सन्निवेश या आकार का उपादान कहना होगा। पर हालांकि आकारित विषय का सन्निवेश भी आकारित विषय ही होता है, लेकिन पहले आकार को दूसरे आकार का अंश ही कहा जा सकता है, उपादान नहीं। जो इन्द्रिय के माध्यम से प्राप्त भर होता है, गृहीत या

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सन्निविष्ट नहीं होता, वही आकार का अनाकारित उपादान होता है। अगर हम संबंध को बुद्धि–कल्पित कहें तो सन्निवेश को इन्द्रिय–कल्पित कह सकते हैं। ग्रहण–क्रिया इन्द्रिय की कल्पना क्रिया होती है। इस क्रिया में भिन्न इन्द्रियों द्वारा 'प्राप्ति'–रूपी भिन्न धर्म भी होते हैं। बाह्येन्द्रिय की ग्रहण–क्रिया द्वारा दैशिक सन्निवेश बनता है, और अन्तरिन्द्रिय या मन की ग्रहण–क्रिया द्वारा कालिक सन्निवेश बनता है। तो फिर यह भी मानना होगा कि बाह्येन्द्रिय और अन्तरिन्द्रिय द्वारा प्राप्त पदार्थ में भी भेद होता है।

.....क्रमशः .....

ए 37/38, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर
अजमेर रोड, जयुपर–302006

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पुस्तक-समीक्षा

हरिशंकर सिंह कृत

बौद्ध-प्रमाणमीमांसा : प्रत्यक्ष के विशेष संदर्भ में*

अरविन्द कुमार राय

समीक्ष्य पुस्तक डॉ. हरिशंकर सिंह (सेवा निवृत्त आचार्य, भागलपुर विश्वविद्यालय) के 12 वर्षों के अथक प्रयास का फल है। यह पुस्तक 2011 में प्रकाशित हुई है। शोध–प्रबन्ध के रूप में इसकी सामग्री 1985 में ही भागलपुर विश्वविद्यालय की पीएच.डी. उपाधि के लिए स्वर्गीय प्रो. नित्यानन्द मिश्र के निर्देशन में स्वीकृत हुई थी। लेकिन पाठकों के सम्मुख आने में इसे 26 वर्ष और लगे। यह ग्रंथ लेखक की बौद्ध–दर्शन के प्रति प्रतिबद्धता और साथ ही साथ 20वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में काशी में क्रियाशील भारतीय दर्शन के अनेक ख्यातिलब्ध विद्वानों की संगति और स्नेह का भी फल है, जिसमें दो महान विभूतियों का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वे हैं–प्रसिद्ध समाजवादी चिंतक तथा विचारक स्व. प्रो. जगन्नाथ उपाध्याय तथा उदासीन संप्रदाय के मूर्धन्य विद्वान्, अनेक दर्शनों के मर्मज्ञ तथा विद्यार्थियों के हितैषी स्व. स्वामी योगीन्द्रानन्दजी। यह ग्रंथ इन दो महापुरूषों की महती कृपा, स्नेह और आशीर्वाद का फलित रूप है। उदासीन संप्रदाय से लेखक का अटूट सम्बन्ध प्रतीत होता है, अतः यह पुस्तक इसी संप्रदाय की एक महान विभूति, खंडनखंडखाद्य परम्परा के विद्वान् महामंडेलश्वर श्री गुरूशरणानन्दजी 'महाराज' को समर्पित है जो लेखक के दीक्षा गुरू हैं। यह पुस्तक बौद्ध–दर्शन के पाठकों, जिज्ञासुओं और विद्वानों के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

बौद्ध–परम्परा में दो प्रकार की धाराएँ प्रतीत होती हैं। एक परम्परा भगवान् बुद्ध के दर्शन और धर्म को प्रमाण–प्रमेय व्यवस्था के आधार पर समझने का पुरजोर विरोध करती है। इसका चरमोत्कर्ष माध्यमिक दर्शन के

*वेदांशी पब्लिकेशन, 204/17, सदर बाजार, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.) पृ. 482, मूल्य – 501/– प्रथम संस्करण 2011

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आचार्य नागार्जुन के दर्शन में दृष्टिगोचर होता है। विग्रह–व्यावर्तनी में नागार्जुन ने जिस प्रकार प्रमाण–प्रमेय–व्यवस्था का उपहास किया है, वह सर्वविदित है। योगाचार के परम आचार्य मैत्रेयनाथ भी उत्तरतंत्र में, बुद्धयान को प्रमाण के आधार पर समझने की अशक्यता का समर्थन करते हुए प्रतीत होते हैं। इसके विपरीत एक दूसरी परम्परा दिखाई पड़ती है जो बुद्ध के दर्शन और धर्म को प्रमाण–प्रमेय–व्यवस्था के आधार पर समझने का प्रयास करती है। इस परम्परा का उत्कृष्ट उदाहरण दिङ्नाग और उनकी परम्परा में दिखाई पड़ता है। प्रमाण–समुच्चय का मंगलाचरण करते हुए आचार्य दिङ्नाग ने भगवान् बुद्ध को 'प्रमाणभूताय' कहकर स्मरण किया है। प्रमाण–समुच्चय का उद्देश्य परस्पर विरोधी मतवादों, कुतर्कों और अप्रामाणिक शास्त्रों के जाल में फंसे मानवों के कल्याण के लिए भगवान् की प्रामाणिक देशना का उद्घोष है। धर्मकीर्ति ने भी दिङ्नाग की राह पर चलते हुए भगवान् बुद्ध की प्रमाणता के वैशिष्ट्य का सबल तर्कों से पोषण किया है। इस प्रकार यह दिङ्नागीय परम्परा जैन और ब्राह्मण परम्परा को जोरदार टक्कर देते हुए, उन्हें परिमार्जित करते हुए तथा स्वयं परिमार्जित होते हुए अग्रसर होती है।

डॉ. हरिशंकर सिंह द्वारा विरचित 'बौद्ध–प्रमाणमीमांसा' का केन्द्रीय विषय प्रत्यक्ष है। बौद्ध–प्रमाणमीमांसा की दृष्टि से तथा दिङ्नागीय परम्परा की दृष्टि से प्रत्यक्ष का महत्त्व सर्वोपरि है। दिङ्नाग दो प्रकार के प्रमाणों को मानते हैं–प्रत्यक्ष तथा अनुमान। लेकिन ये दोनों प्रमाण समान धरातल पर नहीं हैं। प्रत्यक्षाभासों की गणना करते समय अनुमानानुमानिक (अनुमान तथा अनुमान जन्य ज्ञान) की गणना प्रत्यक्षाभास के अन्तर्गत की गयी है। इसलिए दिङ्नाग और उनकी परम्परा में प्रमाण चर्चा के प्रसंग में 'प्रत्यक्ष' का विषय के रूप में चयन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रसिद्ध जापानी विद्वान् डॉ. एम. हतोरी ने दिङ्नाग के प्रत्यक्ष सिद्धांत पर एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक अंग्रेजी में लिखी जो 1968 में प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक में दिङ्नाग के प्रमाण–समुच्चय के आधार पर प्रत्यक्ष का गंभीर विवेचन द्रष्टव्य है। लेकिन दिङ्नागोत्तरवर्ती परम्परा को आधार बनाकर, प्रत्यक्ष का विवेचन करने वाली डॉ. हरिशंकर सिंह द्वारा विरचित यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पुस्तक है। इस पुस्तक में दिङ्नाग के बाद आने वाले धुरंधर बौद्ध विचारकों जैसे–धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर, दुर्वेक मिश्र, प्रज्ञाकर गुप्त, शांतरक्षित, कमलशील, ज्ञानश्री मित्र के साहित्य का विस्तृत उपयोग करते हुए प्रत्यक्ष की विवेचना की गयी है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रस्तुत पुस्तक सात अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय ऐतिहासिक है। द्वितीय अध्याय में प्रमाण सम्बन्धी चर्चा का बीजारोपण करते हुए लेखक ने धर्मकीर्ति द्वारा प्रमाण के दिए गये लक्षण 'अविसंवादिज्ञान' की विवेचना करते हुए प्रामाण्यवाद का गंभीर विवेचना किया है। तृतीय अध्याय में मानसंख्या के निर्धारण का प्रश्न उठाया गया है तथा प्रमाणान्तर्भाव की परीक्षा की गयी है। चतुर्थ अध्याय में प्रत्यक्ष के लक्षण के प्रसंग में विभिन्न बौद्ध–विद्वानों तथा बौद्धेतर विद्वानों के मत की व्याख्या तथा समीक्षा की गयी है। पंचम अध्याय में प्रत्यक्ष के प्रकारों की विशद चर्चा की गयी है। षष्ठ अध्याय में प्रत्यक्ष के विषय की तथा सप्तम अध्याय में वस्तुवाद और विज्ञानवाद के मध्य विवादित अत्यन्त गंभीर विषयों को उठाया गया है। इस संदर्भ में बौद्ध परम्परा में साकार–निराकारवाद का विवेचन तथा बौद्धेतर परम्परा के आलोक में भी साकार–निराकारवाद का विवेचन अत्यन्त विस्तृत, प्रामाणिक तथा शास्त्रीय है। ज्ञानश्रीमित्र के साकारसिद्धिशास्त्र का समुचित उपयोग किया गया है तथा चित्राद्वैतवाद की विवेचना की गयी है।

किसी पुस्तक का महत्त्व उसकी पादटिप्पणियों पर निर्भर होती है। पाद–टिप्पणियाँ जहाँ एक ओर ग्रंथकार क़े वैदुष्य का परिचायक होती हैं वहीं वह पाठकों के लिए शोधोपयोगी भी होती हैं। इस दृष्टि से यह पुस्तक अत्यन्त सफल है। लेखक ने करीब 60 पृष्ठ की जो पादटिप्पणी गुम्फित की है वह लेखक के विस्तृत अध्ययन का परिचायक है तथा शोधार्थियों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। ग्रन्थ के अंत में महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की सूची है। विचार को उसकी मूलगामिता में विवेचित करना इस पुस्तक की विशिष्टता है।

बौद्ध परम्परा का अध्ययन केवल इस परम्परा संबन्धी जिज्ञासाओं की शांति के लिए नहीं अपितु अन्य भारतीय परम्पराओं को समझने के लिए भी आवश्यक है। प्रत्यक्ष के उदाहरण के रूप दिङ्नागीय परंपरा जहाँ नीलाकार, पीताकार आदि उदाहरण देते हैं वहीं नैयायिक घट, पट आदि का उदाहरण देते हैं। क्या नील वर्ण और आकार (संस्थान) दोनों एक हैं अथवा पृथक्–पृथक् हैं ? सौत्रांतिक दोनों को एक मानते हैं लेकिन वैभाषिक तथा नैयायिक ऐसा नहीं मानते हैं। साकार विज्ञानवाद के प्रसंग में आकार का अर्थ और भी व्यापक है तथा यह अपने अन्दर सुख–दुःख आदि चैतों को भी समाहित करता है (पृ. 366)। न्याय–दर्शन तथा मीमांसा–दर्शन मानते हैं कि व्यक्ति के प्रत्यक्ष के साथ–साथ सविकल्पक प्रत्यक्ष में जाति का भी प्रत्यक्ष होता है। लेकिन बौद्धों के अनुसार जाति आरोपित है। अतः यथार्थ प्रत्यक्ष

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जाति विरहित होता है। पाश्चात्य परम्परा में जाति का अस्तित्व मानने वाले अनेक दार्शनिक जाति को बुद्धि के द्वारा गोचर मानते हैं। न्याय और मीमांसा दर्शन जाति का इन्द्रिय प्रत्यक्ष मानते हैं। क्या जाति का इन्द्रिय–प्रत्यक्ष तर्क संगत है ?

प्रो. जे. एन. मोहन्ती ने फेनामेनोलाजीय दृष्टि से तार्किक भाववादियों की आलोचना करते हुए यह मत व्यक्त किया है कि उनका सबसे बड़ा दोष यह है कि वे विषय को मात्र संवेदन–प्रदत्त (Sense data) के रूप में स्वीकार करते हैं। विषय अन्य प्रकार से भी उपस्थित हो सकते हैं। उन्होंने इसके पाँच प्रकार प्रदर्शित किए हैं। ये पाँच प्रकार हैं– वस्तु, संवेदन प्रदत्त, सार, मानसिक सामग्री तथा मानसिक व्यापार। फेनामेनालाजिस्ट्स यह मानते हैं कि चेतना का स्वभाव विषयोन्मुखी होना है। काल्पनिक चेतना और वैचारिक चेतना का भी विषय होता है तथा ये विषय पृथक्–पृथक् चेतनाओं के विषय होने से पृथक्–पृथक् हैं। लेकिन जहाँ विभिन्न विषयों का समायोजन एक विषय में करने की आवश्यकता होती है वहाँ नोएटिक–नोएमा की संरचना के माध्यम से दिए जाने वाले समाधान समस्यामुक्त नहीं हैं। मुझे काशी जाना है। यदि सोचा हुआ 'काशी' विषय इन्द्रियगोचर 'काशी' से भिन्न हो तो मैं काशी जाने की योजना से इन्द्रियगोचर काशी किस प्रकार पहुँच सकता हूँ? प्रत्येक चैतसिक स्तर के समानान्तर विषय की परिकल्पना से एक ओर अनावश्यक विषयों को मानना पड़ता है, दूसरी तरफ उन्हें एक सूत्र में बांधने की समस्या खड़ी होती है जिसके समाधान के बिना योजनाबद्ध क्रिया की व्याख्या नहीं हो पाती है। इसलिए ब्रिटिश अनुभववादी मात्र संवेदन–प्रदत्तों को ही विषय के रूप में मान्यता देते हुए प्रतीत होते हैं। दिङ्नाग और धर्मकीर्ति का समाधान भी कुछ–कुछ ब्रिटिश अनुभववादियों की तरह का है। वे परमार्थतः मेय को एक ही मानते हैं (मेयं त्वेकं स्वलक्षणम्)। इसकी चर्चा लेखक ने तीसरे अध्याय में की है (पृ. 114–120)। न्याय और मीमांसा का सन्निकर्षवाद इस समस्या का एक भिन्न समाधान सन्निकर्षवाद के माध्यम से प्रस्तुत करता है। इससे एक तरफ अनावश्यक पदार्थों को नहीं मानना पड़ता है तथा दूसरी तरफ गोचर विषय से ही अमूर्त विषय को पकड़ने का सूत्र मिल जाता है। उदाहरण के लिए 'पीले घट' के प्रत्यक्ष के उदाहरण में घट (द्रव्य) का प्रत्यक्ष संयोग सन्निकर्ष से, पीले रूप का प्रत्यक्ष संयुक्तसमवाय से तथा रूपत्व का प्रत्यक्ष संयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष से होगा।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

न्याय दर्शन में लौकिक सन्निकर्ष के अतिरिक्त अलौकिक सन्निकर्ष भी मान्य हैं। उसके तीन भेद हैं—सामान्यलक्षण, ज्ञानलक्षण तथा योगज। डॉ. हरिशंकर सिंह के अनुसार न्याय दर्शन में अलौकिक सन्निकर्ष को मान्यता परवर्ती काल में बौद्धों के आक्षेपों का समुचित उत्तर देने के लिए उठाये गये प्रयासों का प्रतिफल है (पृ. 231)। चतुर्थ अध्याय में बौद्धों द्वारा सविकल्पक प्रत्यक्ष के खण्डन के प्रसंग में यह मत अभिव्यक्त किया गया है। सविकल्पक प्रत्यक्षवादियों की ओर से यह कहा जा सकता है कि शब्द का उन अर्थों से संबन्ध है जिसका वे संकेत करते हैं और जब अर्थोपलब्धि होती है तो, उन अर्थों को इंगित करने वाले शब्दों का स्मरण होता है; और तब तत्संश्लिष्टवेदन होता है। बौद्धों का प्रश्न है कि प्रथम चरण में ही सविकल्पक प्रत्यक्ष की उत्पत्ति क्यों नहीं होती है? इस प्रश्न का उत्तर है कि स्मरण रूपी सहकारी के न होने पर प्रथमावस्था में ऐसा नहीं हो पाता है। सविकल्पक प्रत्यक्ष में अतीतावस्था के स्मरण की अपेक्षा है। अतीतावस्था का ग्रहण केवल स्मृति से संभव है, इन्द्रिय द्वारा नहीं। बौद्धों का आग्रह है कि सविकल्पक प्रत्यक्ष मात्र इन्द्रियजन्य नहीं है, इसमें वस्तु की अतीतावस्था की चेतना रहती है। वाचस्पति मिश्र ने प्रत्यक्ष के लक्षण का संशोधन करते हुए यह कहा कि प्रत्यक्ष का विषय ऐसा भी हो सकता है जिसका इन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष न हो, फिर भी वह इन्द्रियोत्पन्न प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत हुआ हो (पृ. 229)। लेखक के अनुसार अलौकिक सन्निकर्ष का अनुसंधान नैयायिकों ने उपरोक्त समस्यओं के समुचित समाधान के लिए किया।

दिङ्नाग, धमकीर्ति आदि दार्शनिक निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं। सविकल्पक प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है। सविकल्पक प्रत्यक्ष व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी है लेकिन अनर्थात्मक है। शब्द के प्रयोग का औचित्य अर्थात्मक क्षेत्र पर आधारित नहीं है। अर्थ—स्वलक्षण है, क्षणिक है तथा कल्पनारहित है। शाब्दिक अर्थ अनर्थात्मक है, सांवृतिक है। शब्द भेदक नहीं, अभेदक होते हैं। यथार्थों में भेद है। अतः धर्मकीर्ति ने कहा है कि शब्द की साम्यता से वस्तुओं में अभेद दिखाई पड़ता है, लेकिन वस्तु—भेद प्रसिद्ध है। शब्द प्रमा का स्वतंत्र साधन नहीं है। शब्दार्थ—सम्बन्ध अनुमान के आकार वाला है। दिङ्नाग की यह मान्यता वैशेषिक सूत्रकार कणाद और भाष्यकार प्रशस्तपाद की तरह है जो शब्द प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान में करना चाहते हैं। लेकिन अन्यापोह का विचित्र सिद्धांत दिङ्नाग की अपनी प्रतिभा का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

फल है। शब्द अपने अर्थ की अभिव्यक्ति दूसरे के निषेध (अन्यापोह) द्वारा उसी प्रकार करता है जैसे अनुमान में (घट) को कार्य सिद्ध करने के लिए दिया गया कृतकत्व हेतु उसके 'अ–कार्य' होने का निषेध करता है। जब हम कहते हैं कि 'गो' शब्द का वाच्य 'गो' अर्थ है; तो इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि जो 'अ–गो' अर्थ है वह 'गो' शब्द का वाच्य नहीं है। यहाँ भी अविनाभाव का नियम घटित होता है। यदि 'गो' शब्द का वाच्य 'गो' अर्थ है तो 'अ–गो' अर्थ गो शब्द का वाच्य नहीं है। दिङ्नाग ने प्रमाण–समुच्चय में कहा है – न प्रमाणान्तरं शाब्दमनुमानात् तथा हि सः। कृतकत्वादिवत् स्वार्थमन्यापोहेन भाष्यते।। (प्रमाण–समुच्यय 5.1) 'गो–अर्थ, 'अ–गो' अर्थ दोनों अनर्थ हैं। लेकिन संवृति के धरातल पर अर्थ हैं तथा शब्द और विकल्पयुक्त हैं। सांवृतिक धरातल पर उनकी उपयोगिता है तथा वे परस्पर एक दूसरे के सापेक्ष हैं। नागार्जुन की शब्दावली का यदि प्रयोग करें तो 'गो' अर्थ तथा 'अ–गो' अर्थ परस्पर सापेक्ष हैं, स्वभाव रहित हैं तथा शून्य हैं। हम सम्पूर्ण शब्दार्थ की साक्षात् उपलब्धि के लिए आग्रह करते हैं। लेकिन ऐसा संभव नहीं है। शब्दार्थ विकल्पात्मक है, सारशून्य है तथा सापेक्षता के धरातल पर उपलब्ध है। यदि वह अन्यों से असम्बद्ध होता, सारवान् होता, तो शब्द से उसके सम्पूर्णार्थ की साक्षात् प्रतीति हो सकती थी। लेकिन ऐसा नहीं है। शब्दार्थ समस्या पर विचार करते हैं तो दार्शनिक परम्परा में हमें दो प्रकार की अतिवादी धाराएँ दिखाई पड़ती हैं। एक धारा प्लेटो या प्लेटो जैसी सोंच रखने वाले दार्शनिकों की धारा है। इस विचारधारा में जाति या साामान्य की प्रधानता होती है तथा विशेष को जाति का आभास समझा जाता है। यहाँ हम 'बिन्दु' का उदाहरण ले सकते हैं। 'बिन्दु' वह है जिसमें न लम्बाई है, न चौड़ाई है और न ही मोटाई है। यह बिन्दु की परिभाषा है। यह परिभाषा 'बिन्दु' के सार तत्त्व का संकेत करती है। लेकिन इस प्रकार का बिन्दु–तत्त्व अतीन्द्रिय है, बुद्धि गोचर है। इन्द्रिय गोचर बिन्दु में कुछ न कुछ लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई अवश्य होगी। अतः इन्द्रियगोचर 'बिन्दु' इस बुद्धिगोचर 'बिन्दु' का आभास है। इन्द्रिय गोचर 'बिन्दु' भिन्न–भिन्न होता है, बौद्धिक बिन्दु एक है। हम इन्द्रियगोचर बिन्दु को वहीं तक समझते हैं जहाँ तक वह बौद्धिकगोचर बिन्दु का प्रतिबिम्ब है या जहाँ तक उसमें यह सहभागी होता है। परिभाषा का विषय बौद्धिक बिन्दु है, इन्द्रिय द्वारा दिया गया बिन्दु नहीं। शब्द प्रयोग की सार्थकता बौद्धिक बिन्दु से सिद्ध होती है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इसके विपरीत एक दूसरा अतिवादी मत सौत्रान्तिकों का या उनकी जैसी विचारधारा वालों का है। प्रत्यक्ष गोचर विषय स्वलक्षण है, क्षणिक है, विशेष है तथा शब्द और विकल्प के पकड़ के बाहर है। सामान्य या जाति विकल्प और शब्द–प्रधान पृष्ठभूमि पर मिलते हैं। उनका अर्थ से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। सामान्य अमूर्त है अनर्थात्मक है, सांवृतिक है। जिस प्रकार प्लेटो के दर्शन में सामान्य को विशेषों से जोड़ने वाला कोई सम–तलीय पथ नहीं है उसी प्रकार सौत्रान्तिक दर्शन में भी विशेष को सामान्य से जोड़ने वाला कोई सम–तलीय पथ नहीं है। दोनों का तल भिन्न–भिन्न है। जाति की सत्ता सापेक्षिक है, सांवृतिक है और अर्थ से रहित है। जाति या सामान्य संस्कार, विकल्प, शब्द वासना और परम्परा की पृष्ठभूमि पर उभर कर उपस्थित होते हैं। इसलिए दिङ्नाग और धर्मकीर्ति ने जाति या सामान्य के यथार्थवादी सिद्धांत पर घनघोर प्रहार किया है। शाब्दिक ज्ञान वक्ता के अभिप्राय से निबन्धित होता है, यथार्थ से नहीं। अधिकांश वक्ता राग–द्वेष से युक्त होते हैं, और संस्कार अनादिवासना के वश में होते हैं। ऐसे लोगों को भगवान् बुद्ध के यथार्थ स्वरूप का प्रत्यक्ष नहीं होता है। भगवान् बुद्ध का यथार्थ स्वरूप कल्पना–जाल से मुक्त है।

दिङ्नाग और धर्मकीर्ति ने शाब्दिक–प्रतीकात्मक–तंत्र और शाब्दबोध पर जिस प्रकार परमार्थतः अनास्था का प्रदर्शन किया है उसकी झलक आधुनिक काल के प्रसिद्ध चिन्तक श्री जे. कृष्णमूर्ति की रचनाओं और व्याख्यानों में स्पष्ट दिखाई पड़ती है। कृष्णमूर्ति के अनुसार अधिकांश दार्शनिक और धार्मिक चिंतक मात्र शाब्दिक कलेवर को तथ्य समझते हैं तथा प्रतीकों के लक्ष्यार्थ की अपेक्षा प्रतीकों पर अधिक बल देते हैं। तर्कशास्त्री और भाषाशास्त्री केवल तर्कशास्त्र, भाषाशास्त्र तथा अधिभाषाशास्त्र की चर्चा करते हैं। वे इस प्रक्रिया के विश्लेषण में संलग्न रहते हैं कि वैध और अवैध प्रतीक, अर्थयुक्त और अर्थहीन शब्द किस प्रकार वस्तु, क्रिया तथा घटनाओं से संबन्धित किये जा सकते हैं। "लेकिन जीवन के महत्त्वपूर्ण क्षेत्र में जहाँ मानव की मनोवैज्ञानिक समग्रता का तथ्य और प्रतीकों के साथ सम्बन्ध की समस्या खड़ी होती है, वे हमारा पथ–प्रदर्शन करने की दशा में नहीं हैं।" यह विचार एल्डस हक्सले ने श्री जे0 कृष्णमूर्ति की प्रसिद्ध पुस्तक 'द फर्स्ट एण्ड लास्ट फ्रीडम" की प्रस्तावना में व्यक्त किया है। हक्सले के अनुसार आशा की ज्योति व्यक्ति में है, प्रतीकात्मक तंत्र या शास्त्र में नहीं। वह संत पाल के वचन को उद्धृत करते हुए कहते हैं, "जीवन आत्मा से है," शब्द उसकी हत्या कर देते हैं।"

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

श्री जे. कृष्णमूर्ति बात को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि सुनने की भी एक कला होती है। किसी की सुनने के लिए हमें अपनी पूर्वधारणाओं, मान्यताओं से छुटकारा पाना होता है। स्ववैचारिक निष्क्रियता की अवस्था में ही हम दूसरे को सुनने के योग्य होते हैं। लेकिन हममें से अधिकांश अपनी पूर्वमान्यताओं और धारणाओं के घेरे में ही दूसरे को समझना या सुनना चाहते हैं। यहाँ वास्तव में हम अपने ही शब्दों और ध्वनियों को सुनते हैं। पूर्वाग्रहों तथा मान्यताओं से छुटकारा पाना तथा शाब्दिक जाल के फन्दे को तोड़कर सद्यः उपस्थित को समझना अधिकांश मनुष्यों के लिए अत्यन्त कठिन है। यदि पूर्व में किसी व्यक्ति ने हमारा अपकार किया है, कष्ट दिया है, तो उसके उपस्थित होने पर उसके अतीत के चित्र के आधार पर ही उसे हम समझने का प्रयास करते हैं। हम अतीतावरण से मुक्त होकर व्यक्ति अथवा वस्तु के साथ अपने वर्तमान कालिक सम्बन्ध को समझने का प्रयत्न नहीं करते हैं। इसलिए हम सत्य तक नहीं पहुँचते हैं। हम सत्य को सूत्र के द्वारा पकड़ना चाहते हैं। लेकिन सत्य को पकड़ने के लिए हमें स्वयं प्रयास करना पड़ेगा, पूर्वाग्रहों और शब्दजाल को काटना होगा। इस प्रकार श्री जे0 कष्णमूर्ति का उद्घोष दिङ्नाग और धर्मकीर्ति की दृष्टि को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करता हुआ प्रतीत होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्री जे. कृष्णमूर्ति उत्तर आधुनिक काल के प्रसिद्ध विचारक जे. डेरिडा से भी सहमत नहीं होगें जो समस्याओं के समाधान के लिए प्रत्यक्षात्मक और अपरोक्ष घटकों की अपेक्षा परोक्ष घटकों को अधिक महत्त्व देते हैं। डेरिडा ने सम्पूर्ण पाश्चात्य तत्त्वमीमांसा की परम्परा पर प्रत्यक्षात्मक तत्त्वों पर अधिक बल देने का आक्षेप लगाया है। उसके अनुसार इस प्रकार की तत्त्वमीमांसा – मेटाफिजिक्स ऑफ लोगोसेन्ट्रीजम् है जो परोक्षात्मक घटकों को महत्त्व नहीं देती है। श्री जे. कृष्णमूर्ति के अनुसार यदि परोक्षात्मक तत्त्वों को चिंतन में प्रधानता देते हैं तो न हम अपने को समझ सकते हैं न दूसरों को समझने में समर्थ होंगे।

श्री जे. कृष्णमूर्ति की ही तरह पं. राहुल सांकृत्यायन की कृतियों में तथा प्रो. जगन्नाथ उपाध्याय की कृतियों में भी दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के विचारों का प्रभाव दर्शनीय है। बौद्ध–प्रमाणमीमांसा के लेखक का उद्देश्य प्रत्यक्ष का शास्त्रीय विवेचन है। लेखक का झुकाव विज्ञानवाद की साकारवादी धारा की तरफ है। अतः उसने इस विचार–धारा को पुष्ट करने वाले प्रत्यक्ष के घटकों को जैसे–मानस प्रत्यक्ष, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष, साकार–निराकार चर्चा तथा चित्राद्वैतवाद के विवेचन में विशेष रुचि और पांडित्य का प्रदर्शन किया है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मीमांसा और न्याय की परम्परा दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के समाधान से संतुष्ट नहीं है। ये दोनों परम्पराएँ निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की तरह सविकल्पक प्रत्यक्ष को भी प्रमाण मानती हैं। यदि प्रमेय–व्यवस्था के आधार को छोड़ दें तो प्रश्न उठता है कि क्या निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का स्वरूप न्याय और मीमांसा में दिङ्नागीय परम्परा के सदृश है? क्या जिस प्रकार बौद्ध निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को शब्दरहित या कल्पनारहित मानते हैं, उसी प्रकार नैयायिक या मीमांसा भी इसे स्वीकार करते हैं? मीमांसा और प्राचीन नैयायिकों का मत धर्मकीर्ति से मिलता जुलता है। प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल के अनुसार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष शब्द–संबन्धरहित बाल–मूकादि के साधारण ज्ञान के सदृश होता है। श्लोकवार्त्तिक में कुमारिल कहते हैं– अस्ति ह्यालोचनज्ञानं प्रथमं निर्विकल्कम्" । बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम् (श्लोकवार्त्तिक 4:112)। प्राचीन नैयायिक भी निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को शब्दरहित मानते हैं, प्रामाणिक मानते हैं। लेकिन नव्य नैयायिकों का मत भिन्न है। इस मत का सुगम प्रतिपादन न्यायसिद्धांतमुक्तावली में द्रष्टव्य है। श्री विश्वनाथतर्कपंचानन के अनुसार प्रत्यक्ष की सन्निकर्ष–प्रधान परिभाषा जो न्याय–सूत्र में है उसकी अव्याप्ति ईश्वर के प्रत्यक्ष में है, इस अव्याप्ति को हटाने वाली परिभाषा है–ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्। प्रत्यक्ष वह ज्ञान है जिसमें अन्य ज्ञान करण न हो। लेकिन यह परिभाषा दिङ्नाग और धर्मकीर्ति की परिभाषा की तरह ही निषेधात्मक हो गयी है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के विषय में श्री विश्वनाथतर्कपंचानन का विचार है कि यह ज्ञान प्रमा और भ्रम से भिन्न है। श्री विश्वनाथतर्कपंचानन कहते हैं–न प्रमा नापि भ्रमः स्यान्निर्विकल्पकम्। प्रकारतादिशून्यं हि संबन्धानवगाहि तत्।। (न्याय सि0 मु0 का0 135–36)। इस विषय के सुबोध ज्ञान के लिए आचार्य बंदरीनाथ शुक्ल द्वारा तर्कभाषा पर हिन्दी टीका (पृ. 65–66) द्रष्टव्य है। प्रमा और अप्रमा दोनों के लक्षण प्रकारता, विशेष्यता और संसर्गता की अपेक्षा रखते हैं जो निर्विकल्पक ज्ञान में सम्भव नहीं है। बर्ट्रेन्ड रसेल ने भी वस्तु के ज्ञान और सत्य के ज्ञान में भेद किया है। उनके अनुसार भी जिस क्षेत्र में सत्य का विधान होगा, उसी क्षेत्र में असत्य का भी विधान होगा। लेकिन इस प्रकार का द्वैत परिचयात्मक ज्ञान में नहीं होगा (द प्राब्लम्स् ऑफ फिलासफी, पृ. 69)।

इस प्रकार नवीन नैयायिकों का मत बौद्धों से भिन्न है। प्रो. बी. के मतिलाल ने इस मत का प्रतिपादन किया है कि प्राचीन नैयायिक बौद्धों की ही तरह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को शब्दरहित मानते हैं। लेकिन उदयनाचार्य

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

और गंगेशोपाध्याय ने इसमें परिवर्तन किया है। इन दोनों ने प्रसिद्ध वैयाकरण भर्तृहरि के तर्कों का उपयोग करते हुए यह प्रदर्शित करने का प्रयास किया है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष शब्दरहित ज्ञान नहीं होता है। वस्तु का प्रमात्मक परिचय सविकल्पक प्रत्यक्ष में होता है। यदि सविकल्पक प्रत्यक्ष में ज्ञान शब्दयुक्त है तो इससे सहज ही अनुमान होता है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में वह शब्दरहित नहीं था (परसेप्शन, पृ. 345–46)।

इस प्रकार हम देखते है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के विषय में दिङ्नाग और धर्मकीर्ति का मत 'वही' नहीं है जिसे हम नव्य नैयायिकों के ग्रन्थों में पाते हैं। दिङ्नाग और धर्मकीर्ति की परम्परा जहाँ शाब्दिक–प्रतीकात्मक–तंत्र और शाब्दबोध को परमार्थतः संशय की दृष्टि से देखती है वहीं न्याय और पूर्वमीमांसा की परम्परा शाब्दिक–प्रतीकात्मक–तंत्र पर पूर्ण आस्था का प्रदर्शन करते हुए शाब्दबोध में निश्चितता, प्रामाणिकता और सुरक्षा के आश्रय का विधान करती हुई प्रतीत होती है।

बौद्ध प्रमाणमीमांसा में अनेक ऐसे विषय हैं जिसमें लेखक ने विशेष रूचि ली है। पंचम अध्याय में मानस–प्रत्यक्ष का विवेचन इसका स्पष्ट उदाहरण है। मानस–प्रत्यक्ष को लेकर दिङ्नाग संप्रदाय के स्वयूथ्य कलह का लेखक ने विस्तृत और प्रामाणिक विवेचन किया है। बौद्ध–आगम के अनुसार पाँचों बाह्य विषयों का मानस–प्रत्यक्ष होता है। रूप का ज्ञान चक्षु से होता है तथा मन के द्वारा भी होता है। बौद्धों की इस मान्यता को स्पष्ट करने के लिए यहाँ जॉन लॉक के मत का उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा। जॉन लॉक के अनुसार हमें प्रत्ययों की प्राप्ति तीन प्रकार से होती है– (1) ऐसे प्रत्यय जो केवल बाह्य प्रत्यक्ष से उत्पन्न होते हैं, जैसे– आकार, गति, शब्द, रंग आदि; (2) ऐसे प्रत्यय जो केवल आभ्यांतर प्रत्यक्ष से उत्पन्न होते है, जैसे–निर्णय, इच्छा, स्मृति, चिंतन आदि; (3) ऐसे प्रत्यय जो आभ्यांतर और बाह्य दोनों प्रकार के प्रत्यक्षों से उत्पन्न होते हैं, जैसे–सुख–दुःख के प्रत्यय, अस्तित्व, शक्ति और आनन्तर्य के प्रत्यय। बौद्ध–आगमों से इस धारणा को बल मिलता है कि कुछ विषय बाह्य और आभ्यांतर दोनों प्रकार के प्रत्यक्षों के विषय बनते हैं। यद्यपि ये विषय कौन कौन से हैं, इसको लेकर बौद्धों और लॉक की मान्यता में स्पष्ट भेद है। लेकिन इससे इस मान्यता को बल मिलता है कि बाह्य और आभ्यांतर प्रत्यक्ष के विषय समान हो सकते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लेकिन यहाँ पर कुमारिल ने कुछ तार्किक कठिनाईयों की ओर ध्यान आकर्षित किया–(1) यदि इन्द्रिय का विषय ही मानस प्रत्यक्ष का विषय है तो गृहीत–ग्राही होने के कारण वह अप्रामाणिक ज्ञान होगा; (2) यदि इन्द्रियों द्वारा ग्रहण न किया जाने वाला विषय मानस प्रत्यक्ष का विषय होगा तो अन्धे और बहरे को भी क्रमशः रूप और शब्द का प्रत्यक्ष होगा। धर्मकीर्ति ने कुमारिल के आक्षेपों से छुटकारा पाने के लिए मानस प्रत्यक्ष का इस प्रकार लक्षण किया जिससे एक तरफ मानसप्रत्यक्ष का विषय इन्द्रिय प्रत्यक्ष की संतान धारा वाला हो तथा दूसरी तरफ अंधे और बहरों के ज्ञान का विषय भी न बने। लेकिन न्यायबिन्दु के टीकाकार धर्मोत्तर ने यह कहकर विवाद उत्पन्न किया कि यहाँ धर्मकीर्ति का लक्ष्य मात्र लक्षण की निर्दुष्टता का प्रतिपादन करना है। इसका साधक कोई प्रमाण नहीं है। इसकी मान्यता आगम प्रसिद्धि के कारण है। इस मत का समर्थन श्री दुर्वेक मिश्र ने अपनी प्रदीप टीका में भी किया है।

लेखक के अनुसार प्रमाण–वार्त्तिकालंकार में प्रज्ञाकर गुप्त की व्याख्या धर्मोत्तर की व्याख्या के विपरीत है। धर्मकीर्ति के प्रभाव के कारण विद्वानों ने दिङ्नाग में भी धर्मकीर्ति के विचारों को आरोपित किया है। अतः दिङ्नाग के मानस प्रत्यक्ष का लक्षण 'मानसं चार्थरागदि–स्वसंवित्तिरकल्पिका' की व्याख्या मानस प्रत्यक्ष और स्वसंवेदन दोनों की ओर संकेत करने वाला माना गया है। आचार्य प्रज्ञाकर दिङ्नाग के उक्त अंश की व्याख्या केवल मानस प्रत्यक्ष के प्रकरण में करते हैं; स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के प्रकरण में नहीं। मानस प्रत्यक्ष में निश्चय या अनुभवकारतारूप एक विशेष बात 'इदम्' के रूप में रहती है, जो इन्द्रिय ज्ञान में नहीं होती है। मानस प्रत्यक्ष में मनोगत आकार और विषयगत आकार रूप आकारद्वय को 'इदम्' रूप कहकर उनमें ऐक्य मानना, इन्द्रिय ज्ञान की तरह मानस प्रत्यक्ष के भी अनेकाकार को संवृति के धरातल पर मानना तथा मानस प्रत्यक्ष को निर्विकल्पक प्रत्यक्ष मानना ऐसे तथ्य हैं, जिसके कारण प्रज्ञाकर में विज्ञानवादी ज्ञानमीमांसा का बीज अंकुरित होता दिखाई देता है। इसलिए ज्ञानश्रीमित्र ने प्रज्ञाकर को साकारसिद्धिनयनाटक का सूत्रधार माना है। (पृ. 288)

बौद्ध–प्रमाण–मीमांसा नामक इस ग्रंथ में यत्र–तत्र अनेक ऐसे स्थल हैं जो पाठक को लेखक के वैदुष्य और अध्ययन की प्रशंसा के लिए विवश करते हैं। इसमें पंचम अध्याय में चित्राद्वैत का विवेचन तथा सप्तम अध्याय में पूरे भारतीय दर्शन तथा विशेषतः ज्ञानश्रीमित्र द्वारा विरचित

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'साकारसिद्धिशास्त्र' के आधार पर साकार–निराकारवाद का विवेचन लेखक के गूढ़ अध्ययन तथा कठिन श्रम का परिचायक है। ज्ञानश्रीमित्र द्वारा विरचित ग्रंथ अत्यन्त दुरूह है। उसके आधार पर साकार–निराकार के सांगोपांग विवेचन को लेकर हिन्दी और अंग्रजी में बहुत कम कार्य हुआ है। प्रो. बी.के. मतिलाल ने अपने ग्रंथ 'परसेप्शन' में इसका स्पर्श किया है। लेकिन प्रस्तुत ग्रंथ में जितना विस्तृत विवेचन किया गया है वह अन्यत्र कठिनता से दिखाई पड़ सकता है।

चित्राद्वैतवाद के प्रमुख आचार्य प्रज्ञाकर, ज्ञानश्रीमित्र तथा रत्नकीर्ति हैं। दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के मत को पुष्ट करते हुए ये सभी दार्शनिक विज्ञप्तिमात्रता का उद्घोष करते हैं। अद्वैतवाद की स्थापना इनका प्रमुख ध्येय है (पृ. 260)। ग्राहक–ग्राह्य के द्वैत के निषेध से, संवित् से भिन्न जड़ के निषेध से, ये अद्वैतवाद की पताका फहराते हैं। ज्ञान की साकारता के कारण ज्ञान अनेकाकार को धारण करते हुए भी चित्र की तरह एक ही है। अतः इनका मत चित्राद्वैतवाद कहलाता है।

ज्ञान साकार अथवा निराकार है–इस प्रश्न का विवेचन लेखक ने सप्तम अध्याय में ज्ञानमीमांसा और तत्त्वमीमांसा दोनों के परिप्रेक्ष्य में किया है। ज्ञान के साकार–निराकर होने की बात सामान्यतः दो दृष्टियों से विश्लेषित है–(1) आकार ज्ञान का स्वोपज्ञ है, अथवा बाह्य वस्तु का; (2) ज्ञान में प्रतीत होने वाला आकार सत्य है या अलीक। बौद्धों में वैभाषिक, माध्यमिक, शुभगुप्त और धर्मोत्तर निराकारवादी हैं, जबकि शेष सौत्रान्तिक, प्रज्ञाकर, ज्ञानश्रीमित्र तथा रत्नकीर्ति साकारवादी हैं। निराकारवादी विज्ञानवाद या साकारवादी विज्ञानवाद का प्राण स्वसंवेदनता है और इसी के आधार पर विज्ञानवाद का महल सुशोभित होता है। लेखक का झुकाव साकारवाद की तरफ है। इस प्रकार हम देखते हैं कि लेखक के दार्शनिक चिंतन में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के दो मूर्धन्य आचार्यों प्रो. टी. आर. वी. मूर्ति और प्रो. सी. डी. शर्मा के विज्ञानवादी धारा का पँरोक्ष प्रभाव है।

दर्शन एवं धर्म विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी - 221005

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ISSN 0974 0053